सिद्धान्त-रहस्यम्

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

ग्रन्थ-परिचय

एक किन्वदन्तीके अनुसार सिद्धान्तरहस्यका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि। सं। १५४९ में किया था। श्रीमहाप्रभुके चरित्रग्रन्थों तथा इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्यके आधारपर यह निश्चित है कि इसकी रचना गोकुलमें श्रावण शुक्ल एकादशीको अर्धरात्रीमें हुई थी।

श्रीयदुनाथजी विरचित वल्लभदिग्विजयके मध्यमयात्रा परिच्छेदमें यह घटनायों वर्णित हैं-"श्रीमहाप्रभु मथुरासे गोकुल पधारे। वहां श्रावण शुक्ला एकादशीका व्रत एवम् जागरण किया। मध्यरात्रीमें भगवानने प्रकट होकर दर्शन दिये। तब श्रीमहाप्रभुने पवित्रा धराकर मिश्रीका भोग धरा। पश्चात् श्रीगोकुलनाथने श्रीमहाप्रभुको आश्वस्त किया की उन्हें दैवी जीवोंके उद्धारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। दैवी जीवोंके उद्धारार्थ प्रस्तुत ग्रन्थमें वर्णित भावनाके साथ गद्यमन्त्रका दान (मदुक्तभावनासहितं गद्यम्।) श्रीमहाप्रभुको दिया गया। अन्योंको भी इस भावनाके उपदेशके साथ गद्यमन्त्रके द्वारा दीक्षित करनेका आदेश दिया गया। श्रीमहाप्रभुको वचन दिया गया कि जिसे यह सर्वस्वसमर्पणपूर्वक आत्मनिवेदनकी दीक्षा दी जायेगी उसकी अहन्तामममता के सेवामें विनियोग द्वारा उसे भगवल्लीलाकी अनुभूतिका सामर्थ्य प्रदान किया जायेगा। प्रातः श्रीमहाप्रभुने यह दीक्षा दामोदरदास तथा कृष्णदास को दी"।

८४ वैष्णवनकी वार्ताके अनुसार भगवदाज्ञाके बाद श्रीमहाप्रभुने समीप में सोये हुए दामोदरदास हरसानीको पूछा-"दमला ते कछु सुन्यो? तब दामोदरदासने कह्यो जो महाराज मैंने श्रीठाकुरजीके वचन सुने तो सही समझ्यो नाहीं"।

सुना तो बृहदारण्यकोपनिषद्में भी सभीते था-समर्पण सिद्धान्त, "अयमात्मा

सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा। तद्यथा रथनाभौ रथनेमौ चाराः समर्पिताः एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एवात्मानः समर्पिताः''। पर समझमें कहां आता है सभी कुछ जिस परमात्मामें समर्पित है उस परमात्माके प्रति मन-वाणी-देहसे सर्वसमर्पणकी स्वीकृति सबकी समझमें नहीं आती। अतएव कह तो भगवान्ने गीतामें भी दिया है कि ''मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु, मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियासि मे'' पर भगवान्की इस प्रतिज्ञाका तथा प्रेमाश्वासनका तात्पर्य कहां समझमें आता है? सुनी तो भागवतमें भी हमने भगवद्वाणी है कि ''ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परं हित्वा मां शरणं यातः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे'' पर वह कहां समझमें आती है

स्वयम् इस सिद्धान्तरहस्यमें साक्षाद् भगवदुक्त भावनासहित गद्यमन्त्रमेंसे जब श्रीमहाप्रभुने अक्षरशः भगवदुक्त भावना दोहरा दी फिर भी वह सुनने के बाद भी समझमें नहीं आती कई विद्वानोंको सन्देह होता है कि गद्यमन्त्र साक्षाद् भगवदुक्त है या श्रीमहाप्रभूक्त है या श्रीप्रभुचरणोक्त है या श्रीगोकुलनाथजीने इसे परवर्ती कालमें जोड दिया है तर्क वितर्क उठते रहते हैं कि ''साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते'' कहने के बाद जब गद्यमन्त्र नहीं कहा गया तो अवश्य ही वह परवर्ती कालमें श्रीप्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजीने जोड दिया होगा परन्तु इस अक्षरशः निरूपणमें तो पञ्चाक्षरमन्त्र भी नहीं दोहराया गया हैं, तो केवल गद्यमन्त्र ही क्यों-पञ्चाक्षर मन्त्रको भी प्रक्षिप्त क्यों न मान लिया जाये। जबकि श्रीगोकुलनाथजीसे पूर्ववर्ती श्रीकृष्णदास अधिकारी-''श्रीगोपालमन्त्र अष्टाक्षर पञ्चाक्षर के श्रवन कराये, गद्यमन्त्र सब जीवनिको दे कृष्णचरण सबके चित लाये।'' तथा ''कृष्ण श्रीकृष्ण मनमाहि गति जानिये, देह इन्द्रिय प्राण दारागारादिवित्त आत्मा सकल श्रीकृष्णकी मानिये। कृष्ण मम स्वामी हों दास मनवचकरम कृष्ण कर्ता येही सदा जिय आनिये। कृष्णदास निनाथ हरिदासवर्यधरचरणरज वल्लभाधीश मन सानिये।'' कहते हैं। इसे सुनते और निरन्तर गाते रहनेपर भी आज यह समझमें नहीं आता

कतिपय विद्वानोंके अनुसार अतएव यह गद्यमन्त्र श्रीगोकुलनाथजी द्वारा

नहीं किन्तु श्रीप्रभुचरण द्वारा पञ्चाक्षरके साथ जोडा गया माना जाता है। जबकि उनके ज्येष्ठभ्राता श्रीगोपीनाथजी स्वरचित साधनदीपिकामें-''नायमात्मा प्रवचनैः न धिया बहुना श्रुतैः, लभ्यते वरणं हित्वा वृतं संवृणुते श्रुतेः, स्मृत्वा स्वीयवियोगाग्निं तापदाहो भावाम्बुधौ, ततः सर्वं समर्प्यैव श्रीगोपालमनुं श्रयेत इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियं दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्'' कहते है तो स्पष्ट हो जाता है कि गद्यमन्त्र प्रभुचरणसे पूर्व ही दीक्षाविधिमें समाविष्ट हो गया था। किन्तु ''महाराज सुन्यो पर समुझ्यो नाहीं''

निवेदन समर्पण एवम् विनियोग उत्तरोत्तर एक-दूसरेके रहस्य या तात्पर्यरूप हैं। पञ्चाक्षरमन्त्रके द्वारा जो आत्मनिवेदन किया जाता है, गद्यमन्त्रमें उन्हीं 'आत्मा' तथा 'निवेदन' का रहस्य आत्मीय सकल पदार्थोके समर्पणके रूपमें समझाया गया है। गद्यमन्त्रमें जिस आत्मा एवम् आत्मीय सकल पदार्थोका समर्पण किया जाता है, उसका रहस्य अपने स्वामी श्रीकृष्णकी तनुवित्तजा सेवामें स्वयम् अपने तथा अपनेसे सम्बन्धित सभी पदार्थो के विनियोगमें निहित है। अन्यथा समर्पण पूर्णतया चरितार्थ हो नहीं पाता। समर्पितका विनियोग भी अतः आवश्यक है।

श्रीमहाप्रभुको आत्मनिवेदनकी भावनाके रूपमें यही प्रभुने प्रकट होकर समझाया था-''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् बर्जनमाचरेत् निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः''। आत्मनिवेदीको असमर्पित वस्तुका त्याग करना चाहिये। अपने सारे कामकाज समर्पणपूर्वक ही चलाने चाहिये। यही ब्रह्मसम्बन्ध या आत्मनिवेदन की मूलभावना है।

''निवेदनके समय अपनेसे सम्बन्धित सभी वस्तुओंका प्रभूसे-ब्रह्मसे सम्बन्ध हो जाता है।।।।। जिन्होंने अपने प्राणोंको कृष्णसात् कर लिया है उन्हें किस बातकी चिन्ता हो सकती है?'' नवरत्नके इस वचनकी तथा सिद्धान्तरहस्यके ''ब्रह्मसम्बन्ध करनेसे सभीके देह तथा जीव के सभी तरहके दोष निवृत्त हो जाते है'' इस वचनकी परस्पर सङ्गति बैठानेपर पञ्चाक्षरमन्त्रद्वारा आत्मनिवेदन तथा गद्यमन्त्रद्वारा वियोगाग्निके स्मरणपूर्वक आत्मीय सकल

पदार्थोके समर्पणको मिलाकर 'ब्रह्मसम्बन्ध' कहा जाता है। यही सिद्धान्तका रहस्य हमें सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थमें सुनायी पडता है।

यही रहस्य श्रावण शुक्ला एकादशीकी महानिशामें साक्षात् भगवान्ने प्रकट होकर श्रीमहाप्रभुको सुनाया था। उस पञ्चाक्षर तथा गद्यमन्त्र के अंशको गोप्य होनेके कारण छोडकर समर्पणके सिद्धान्तके इस भगवदुक्त रहस्यको यहां अक्षरशः श्रीमहाप्रभुने दोहरा दिया है। जो बात भगवानने गद्यमन्त्रकी भावनाके रूपमें कही थी उसीका यहां अक्षरशः निरूपण है पञ्चाक्षर या गद्य मन्त्रका नहीं।

जीव तो अनेक प्रकारके दोषोंसे भरे हुए है। उदाहरणतया १।अविद्याके साथ सम्बन्ध, तत्कृत अहन्ता-ममताकी भ्रान्ति, तत्कृत प्राणधारणके प्रयत्न जैसे दोष आत्माके साथ लगे रहते है। सूक्ष्म शरीरमें काम-क्रोध-लोभ आदि तथा क्षुधापिपासा जैसे अनेक सहज दोष विद्यमान रहते है। इसी तरह स्थूल शरीरमें भी अनेक तरहकी अशुद्धि तथा रोगादि दोष सहज पाये जाते है। २।पापबहुल प्रदेशोंमें जन्मग्रहण करनेसे या कभी तो गमनमात्रसे भी शास्त्रोंके अनुसार दोष लग जाते है। ३।कलिकालके कारण अनेक धार्मिक व्यवस्था लुप्त हो गयी है। अतः कालजन्य दोषोंको भी शास्त्रमें स्वीकारा गया है। ४।कभी-कभी जानबूझकर या माहवश हम ऐसे आचरण कर बैठते हैं जिन्हें लोक एवम् शास्त्र में निन्दित माना जाता है। ५।कभी-कभी अपरिहार्य स्थितिमें अनचाहे अनजाने ऐसे गलत काम हमसे हो जाते हैं या हठात् करने पडते है जो लोकवेदनिन्दित हों।

इस तरह लोक तथा वेदों में गर्हित अनेक प्रकारके दोषोंसे जीव भरा हुआ रहता है। किन्तु ब्रह्मसम्बन्ध होनेपर ये दोष निवृत्त चाहे हों या न हों पर पुष्टिजीवद्वारा की जानेवाली भगवत्सेवामें बाधक नहीं हो सकते। ब्रह्मसम्बन्ध के अलावा अन्य किसी भी प्रकारसे इन दोषोंकी निवृत्ति सम्भव नहीं है।

ब्रह्मसम्बन्धका वास्तविक स्वरूप असमर्पित वस्तुके त्याग करनेपर ही सम्पन्न होता है। कुल मिलाकर बात इतनी ही है कि जिसने आत्मनिवेदन किया है उसे अपने सारे कामकाज समर्पणपूर्वक ही चलाने चाहिये। किन्तु इसमें एक सावधानी अपेक्षित है कि हम ऐसी किसी भी वस्तुका, जिसका उपभोग प्रथम हमने कर लिया हो, देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णको समर्पण न करें। हमारे प्रथम उपभोगके कारण वस्तु हमारी अर्धभुक्त या उच्छिष्ट हो जाती है और उसे श्रीकृष्णको समर्पित करनेकी कोई तुक नहीं है। अतः हमारे उपभोग करनेसे पूर्व सभी वस्तुओंका समर्पण आवश्यक है।

भगवदर्थ सभी वस्तुओंका समर्पित कर देनेपर आत्मनवेदीके दैनंदिन व्यहार कैसे निभ पायेंगे? और असमर्पितका भी उपभोग निषिद्ध माना गया है तो यह दोनों बाते कैसे शक्य होंगी?

"भगवान्को दानरूपमें जो कुछ भेंट कर दिया जाता है उसका पुनः अपहरण या उपभोग नहीं करना चाहिये" यह विधान पुष्टिमार्गीय साधना प्रणाली पर लागू नहीं होता। क्योंकि पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें जैसे घरके सेवक मालीककी उपभोग की हुई वस्तुओंका-अन्नवस्त्रादिका उपभोग लोकमें करते ही है। वैसे ही सब कुछ पहले एकबार प्रभुको समर्पित करना चाहिये और पश्चात स्वयम्के उपभोगार्थ ग्रहण करना चाहिये। अतः सर्वसमर्पण एवम् असमर्पित त्याग के सिद्धान्तमें न तो विरोधाभास और न किसी प्रकारकी कठिनाई ही है। ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय जिन वस्तुओंका हम समर्पण करते हैं उनका साक्षात् या परम्परया किसी भी तरह एक बार भगवान्की सेवामें विनियोग हो जानेपर उनके सारे दोष निवृत्त हो जाते है। अतः इस तरहकी दोषरहित ब्रह्मभावापन्न वस्तुओंके उपभोगमें किसी भी प्रकारके सांसारिक अनर्थकी सम्भावना नहीं रह जाती है। जैसे नदी-नाले गङ्गामें मिल जाने पर गङ्गाजल ही मान लिये जाते है-उनके स्वतन्त्र अस्तित्व या गुणदोषों का विचार नहीं किया जाता। ठीक इसी तरह भगवान्की अलौकिक सेवाके अङ्ग बन जानेपर सांसारिक वस्तुओंके भी स्वतन्त्र गुणदोषोंका विचार अनावश्यक हो जाता है।

भगवान्के द्वारा लिये गये सारे जागतिक रूप भगवान्के हैं तथा

भगवान्‌के लिए हैं। हमारे स्वयम्‌के भी अस्तित्व तथा प्रयोजन भगवद्‌लीलाके अङ्गरूप तथा भगवत्सेवार्थ है। अतः भगत्समर्पणके बाद भगवत्प्रसादके रूपमें उनका पुर्नग्रहण दोषरहित है। जब सब कुछ भगवान्‌का भगवत्सेवार्थ बन जाता है तो भगवदात्मक हो जाता है।

यही पुष्टिमार्गके सिद्धान्तका गूढतम रहस्य है। यही पुष्टिमार्गके प्रमुखकर्तव्य भगवत्स्वरूपकी सेवाकी दीक्षा लेते समय और लेनेके बादकी भगवान्‌को अभिप्रेत भावना है। यही भावना गोकुलमें प्रकट होकर भगवान्‌ने श्रीमहाप्रभुको समझायी थी। उस महानिशामें पुष्टिजीवोंके उद्धारकी चिन्तामें जागृत श्रीमहाप्रभुकी चिन्ता इस रहस्यके प्रकाशनद्वारा दूर की गयी थी। पर आजतक श्रीमहाप्रभुके समीप सुषुप्त उनके पुष्टिजीव इस सिद्धान्तरहस्यको सुनकर भी समझ नहीं पाते है।

''दमला यह मारग तेरे लिए प्रकट कियो है'' कितना अपनत्व है इस वाणीमें ''दमला ते कुछ सुन्योऽ?'' कितनी उत्कण्ठा है इस प्रश्नमें, सिद्धान्तके सारे रहस्यको अपने पुष्टिजीवोंको सुनानेकी और समझानेकी चाहे जीव सुनकर भी समझ पाये या नहीं।

अतएव हरिजीवन कहते हैं कि जबतक प्रभु अपनत्व नहीं जताते तबतक पुष्टिमार्गके सिद्धान्त केवल पढ या सुन लेनेपर समझनें नहीं आते है। उपनिषद् गीता पञ्चरात्र तथा श्रीमद्‌भागवत सर्वत्र समर्पणका सिद्धान्त सभीने पढा और सुना भी किन्तु।।।।

श्रीमद्‌भागवतरूप अमृतके सागरका सर्वोत्तम मन्थन कर श्रीमद्‌वल्लभाचार्य महाप्रभुने ही अपने सुषुप्त पुष्टिजीवोंको जगाकर पूछा- ''दमला ते कछु सुन्योऽ?'' श्रीमहाप्रभु केवल सुनाने या समझाने में ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते है। वे पुष्टिजीवके हाथमें परब्रह्म परमात्मा पुरुषात्तम श्रीकृष्णको सोंपना चाहते हैं-''सेवा साज सिंगार सुभग रस खान पान प्रकटायो, वृन्दावन निकुञ्जकी लीला हरि जीवन स्वाद चखायो, जो लों हरि आपुनपो न जनावे तो लों सकल सिद्धान्त मारगको पढे सुने नहीं आवे।''

प्रस्तुत संस्करण वि। सं। १९८० में भगवद्धर्मपरायण भाईलाल पुरुषोत्तमदासके आर्थिक सहयोगसे श्रीमूलचन्द तेलीवाला तथा श्रीधरजलाल व्रजदास साङ्कलिया ने सम्पादित तथा प्रकाशित किया था। उसका यह संस्करण ओफसेट प्रोसेस द्वारा पुर्नमुद्रित रूप है। इन सभी महानुभावोंका हम कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते है।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणदृष्टम्।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः[1]।।२।।
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन।।३।।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।
निवेदिभिः[2] समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति[3] स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।।५।।
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।६।।
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति।।७।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।।८।।
गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ १/२।।

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यम्।

१.मताः। २.श्रीहरिः। नन्वसमर्पितवस्तुवर्जनेन सर्ववस्तुसमर्पणं प्राप्तम्, तत् किं स्वयं स्वभावेन समर्पयेत्, अन्यथा वेति सन्देहे प्राहुः निवेदिभिरिति। भगवान् हि यशोदास्वामिनीहस्त एव समर्पितं भुनक्ति इति, निवेदिनः निवेदो निवेदनं तद्युता निवेदिनः, ते एव सर्वथा कृतनिवेदना मातृचरणस्वामिनीप्रभृतयः, तैः कृत्वा, सर्वं समर्प्यते सर्वं भगवते समर्पयन्ति इति भावनया सर्वं समप्य पश्चात् स्वयं तदुपभोगं लोके वेदे च कुर्यात् इति अर्थः। ३।कार्यम्।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतम्।

नत्वा पितृपदाम्भोजं सर्वाभीष्टप्रदायकम्।
कृष्णवाङ्मूलकाचार्यवचो व्याख्यातुमुद्यतः।।१।।
यद्यपीश्वरवाक्यानामभिप्रायोतिदुर्गमः।
मदीयोयमिति ज्ञात्वा ज्ञापयिष्यत्युदारधीः।।२।।

अथ यदैव श्रीगोकुलस्वामी स्वमनोभिलषितप्रकारकशुद्धपुष्टिभक्तिमार्गं प्रकटयितुं मनः कृतवान्, तदैव स्वमुखारविन्दरूपाचार्याणामेव तत्प्रकटनसामर्थ्यं ज्ञात्वा भुवि प्राकट्यार्थमाज्ञां दत्तवान्, तदाचार्या अपि भगवदभिप्रायं ज्ञात्वा तद्दत्ताज्ञाप्रकारेणैव स्वप्राकट्यं विधाय भगवदभिमतप्रकारकं भक्तिमार्गं प्रकटितवन्तः। तत्र स्वमार्गीयभक्तिस्वरूपं स्वमार्गसेव्यस्वरूपं स्वमार्गीयेसेवाप्रकारं च मार्गान्तरीयभजनसाङ्कर्याभावार्थं वैलक्षण्येन प्रमाणपूर्वकं निरूपितवन्तः। अन्येपि तत्तच्छास्त्रोक्ता धर्मा विवेकादयश्चतुष्टयपुरुषार्थरूपास्त्यागादयश्च तत्तन्मार्गीयाः सन्ति। तेषां स्वप्रकटितपुष्टिमार्गविवकादीनां च सन्देहाभावार्थं भिन्नत्वेन निरूपणं कृतवन्तः। तथापि यथा पूजामार्गे पूजार्थं तन्मार्गोक्तप्रकारेण सम्भावितदोषनिवृत्तिपूर्वकं पूजाकरणं निरूपितम् तथा स्वप्रकटितमार्गेपि सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकं सेवाप्रकारो न विचारित इति चिन्तया तद्विचारपरानाचार्यान् दृष्ट्वा स्वयं श्रीगोकुलेश आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकटीभूय स्वसेवाप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तिप्रकारकमसाधारणं कारणं तथोपदिष्टवान्, यथाग्रेपि सेवायां यावज्जीवं दोषप्रवेशो न भवति। आचार्यस्तु भगवदुपदिष्टं स्वहृद्याधाय स्वकीयानपि ज्ञापयितुं भगवदुपदिष्टं यथा सौकर्येण बोधो भवति, तदर्थं पद्यबन्धेन तत्र यस्मिन्मासे यस्मिन्पक्षे यस्यां तिथौ यस्मिन्समये तज्ज्ञापनपूर्वकं वक्तुं प्रतिजानते श्रावणस्यामले पक्ष इति।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

श्रावणस्य श्रावणमासस्य श्रवणस्य विष्णुदैवतत्वात्तदुपलक्षितमासस्यापि[1] वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्बन्धित्वज्ञापनाय मासः श्रावण उक्तः। पक्षस्य शुक्लत्वं विहायामलत्वकथनेन भगवत्पक्षीयाणां सर्वेषां सर्वात्मना निर्दुष्टत्वं ज्ञापितम्। अतः परं तिथेर्निर्दुष्टत्वं निरू-

---

१ दैवत्यात् इति पाठः।

पयन्ति एकादश्याम् इति। एकादश्यप्येकादशेन्द्रियदोषनिवर्तिका इति तिथिरपि सैवोक्ता। यथा श्रीगोकुले अन्तरङ्गभक्तसर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं तद्द्वारा सर्वेषामपि गोकुलवासिनां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं महानिशायामेव प्रादुर्भावः। तद्वदत्राप्याचार्यार्थं प्रादुर्भूय तत् द्वारा तदीयानां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वं तत्तुल्यम् इति अत्रापि महानिशायामेव प्रादुर्भाव उक्तः। महानिशि इति। यथा श्रीगोकुले साक्षाद् व्यूहरहितपूर्णपुरुषोत्तमप्राकट्येनैव भक्ताभिलषितं कृतवान्, तद्वदत्रापि साक्षात्प्राकट्येनैव आचार्यानुपदिष्टवानिति ज्ञापनायोक्तं साक्षाद्भगवता प्रोक्तम् इति। यद्यपि भगवता प्रोक्तम् इत्येतावतैव चारितार्थ्येपि साक्षात्पदोक्तेरयमाशयः। भगवदुक्तौ प्रकारविशेषा बहव एव सम्भवन्ति। क्वचिद्भगवान् स्वोक्तिं सेवकद्वारा ज्ञापयति, क्वचित्स्वप्नद्वारा, क्वचित् "गिरं समाधा"विति न्यायेनाकाशवाणीद्वारापि ज्ञापयति। अत्र तूक्तसम्भावितप्रकराभावपूर्वकं स्वयं साक्षात्पूर्णप्राकट्येनाचार्यानुपदिष्टवानिति ज्ञापनायोक्तं साक्षात् इति। उक्तौ प्रशब्दोक्त्या अत्रोक्तेः केवलं कृपयैवाविर्भूय, नत्वाचार्यप्रार्थनयेति ज्ञापनाय प्रशब्दोपादानम्। साक्षाद्भगवद्वाक्यकथनं सर्वेषां सम्यक् हृदयारूढं न भवति इति तस्माद्वाक्यार्थ एव यथा-यथा सम्यक् हृदयारूढो भवति तथा पद्यबन्धेन कथनं प्रतिजानते तदक्षरश उच्यत इति। तदेव पूर्वोक्तमक्षरशः प्रत्यक्षरार्थविचारपूर्वकम् उच्यते निरूप्यत इति अर्थः।।१।।

एवं कथनं प्रतिज्ञाय साक्षात्स्वमार्गीयसेवाप्रतिबन्धकासाधारणदोषनिवृत्तिप्रकारं भगवदुक्तं प्रथमत आहुः ब्रह्मसम्बन्धकरणात् इति।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।

सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः।।२।।

ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम एतन्मार्गीयाचार्यद्वारा भगवन्निवेदनम्। तेनैव सर्वेषां देहानां सर्वेषां जीवानां च सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिर्भवति। ननु "वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत" इत्याचार्यवचनादुपनिषत्स्वेव ब्रह्मपदं पुरुषोत्तमवाचकम्, नत्वन्यत्र, तथाप्यत्र ब्रह्मपदोपादानस्यायमाशयः। यथा ब्रह्मणि सर्वसमत्वं धर्मोस्ति, तद्वदत्रापि आचार्यनिवेदनानन्तरं सर्वेषामङ्गीकारे समत्वमेव, न तु वैषम्यमपि इति ज्ञापनायात्र ब्रह्मपदोपादानम्। यद्वा। यथा गीतासु "भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम्" इत्यादिवचनाद्वाक्यानामेवोपनिषद्रूपत्वम्, तद्वदत्रापि ब्रह्मसम्बन्धकरणात् इत्यादिवाक्यानां भगवद्वाक्यत्वेनोपनिषद्रूपत्वादत्र ब्रह्मपदस्य पुरुषोत्तमवाचकत्वमेवेति ब्रह्मपदोपादानम्। तेनास्मिन्भक्तिमार्गे भगवदीयत्वेनैव सर्वदोषनिवृत्तिः। सवायोग्यत्वं च। अत एव श्रुतिरप्याह "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति। अस्मिन्मार्गे भगवद्वरणस्यैव दोषाभावहेतुत्वात्। दोषरहितस्यैव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वात्। तस्मादस्मिन्मार्गे भगवदीयत्वमेव सर्वदोषनिवृत्तिहेतुः। ननु पूजामार्गे पूजार्थं दोषनिवृ

त्तिप्रकारा बहव एव उक्ताः भूतशुद्ध्यादयः, तद्व्यतिरेकेण कथमत्र भगवदीयत्वमात्रेणैव सर्वदोषनिवृत्तिरितिचेत्। उच्यते। सर्वथा निर्दुष्टपदार्थसम्बन्धेनैव सर्वदोषनिवृत्तिः। सर्वात्मना निर्दुष्टत्वं पुरुषोत्तस्यैव, नान्यस्य, अत एवाचार्यैरुक्तं "कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्" इति। अतो भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यत्वात्तत्सम्बन्धमात्रेणैव सर्वेषां सर्वदोषनिवृत्तिरिति नानुपपत्तिः काचित्। अस्यार्थस्य युक्तत्वज्ञापनायोक्तं हि इति। पूजामार्गे पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावात्तत्र ये दोषाः सम्भवन्ति, तेषां भक्तिमार्गे सम्भावापि न सम्भवति इति तान्दोषान्निराकरणार्थमनुवदन्ति दोषाः पञ्चविधाः स्मृता इति।।२।।

पञ्चविधत्वमेव गणयन्ति सहजा इति।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।

संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन।।३।।

देहेन सहैव जायन्ते सहजाः। देहस्य पाञ्चभौतिकत्वात्। भूतेषु भगवत्सम्बन्धाभावात् दोषाः सम्भवन्ति, ते पूजामार्गे भूतशुद्ध्यादिना निराक्रियन्ते। तथैव पूजाप्रदेशेपि पूजार्थमासनादिशुद्धिविधानात्पूजाप्रदेशेपि दोषाः सन्ति। अन्यथा "अपसर्पन्तु ते भूताः पवित्रं कुरु चासनम्"इत्यादिना तन्निराकरणं न स्यात्। तद्वत्कालेपि "प्रातर्होमं च कृत्वैव कृत्वा वा ब्रह्मयज्ञकम्। यद्वा माध्याह्निकं कृत्वा पूजयेत्पुरुषोत्तम्" इति मन्त्रराजानुष्टुब्विधानवचनात्। पूजायां नियतकालविधानात्तदतिरिक्तकालपूजाकरणे कालदोषोपि सम्भवति। अत उक्तं देशकालोत्था इति। एवं देशकालोत्थान्निरूप्य लोकवेदोत्थान आहुः लोकवेदनिरूपिता इति। "पूजादिना ब्रह्मलोकम्" इति वचनात्पूजाप्राप्यब्रह्मलोकेपि "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोर्जुने"तिवचनात्पुनरावृत्तिरूपो दोषस्तत्रापि निरूपितः। किञ्च, पूजायां पूजाङ्गत्वेनाग्निस्थापनपूर्वकवैदिकमन्त्रैर्होमविधानात्तत्रापि न्यूनातिरिक्तदोषः सम्भवत्येव। अन्यथा "यस्य स्मृत्या च नामोक्त्ये"त्यादि प्रार्थनं न स्यात्। एवं लोकवेदोत्थान्निरूप्य संयोगजान्निरूपयन्ति संयोगजा इति। पूजायामभिषेकाद्यर्थं मन्त्रादिसंस्कृतशङ्खादिजलेष्वसंस्कृतजलादिसंयोगे संयोगजो दोषो भवति। तथैवासादितपात्रादिपदार्थानां पुष्पगन्धादीनां तेषां स्त्रीशूद्रादिस्पर्शेपि स्पर्शदोषो भवति। चकारादन्येपि नैवेद्यादिष्वप्यागन्तुका दृष्ट्यादिदोषा उक्ताः। एवं पूजामार्गीयान् दोषाननूद्य भक्तिमार्गे तेषां निराकरणम् आहुः न मन्तव्याः कथञ्चनेति। ते दोषा भक्तिमार्गे न मन्तव्याः, न गण्याः। यद्यपि "न मन्तव्या" इत्यतावतापि निराकरणसिद्धावपि पुनः कथञ्चनेति पूजामार्गीयोक्तदोषाणां भक्तिमार्गे सम्भावनापि नास्ति इति अर्थः। दोषसम्भावनाया अप्यभावे ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यसाधारणो हेतुः पूर्वमुक्त एव। ननु पूजामार्गे पूजार्थं दोषनिराकरणार्थं बहव एव प्रकारा उक्ताः, तान्विहाय शुद्धभक्तिमार्गे भगवन्निवेदनमात्रस्यैव सेवार्थं सर्वदोषनिवर्तकत्वं कथम् इति चेत्? उच्यते।

"अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज" इति वचनात्। तथा च "भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्" इत्यादिवचनतो भक्तिमार्गः स्वत एव सर्वदोषनिवर्तकः। अथ च, भक्तिमार्गे सेव्यः पुरुषोत्तम एव न तु तदंशस्तद्विभूतिरूपं वा। स एव सर्वात्मना सर्वदोषरहितः निर्दुष्टपूर्णगुणविग्रहः। अतस्तन्निवेदनेन तत्सम्बन्धे सति सर्वात्मना सर्वदोषनिवृतौ किं वाच्यम्। अतः पञ्चमस्कन्धे भगवद्वाक्तस्वरू

पनिरूपणे "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तासर्वाथा" इति तेषामुत्कर्षावधिरुक्तः। यत्र भगवदीयत्वमात्रस्येव सर्वपुरुषार्थतुच्छीकरणत्वम्, तत्र भक्तिमार्गीयभगवन्निवेदनस्य सर्वदोषनिवर्तकत्वं कैमुतिकन्यायेनैव सिद्धम् इति किं वृथावल्गनेनेति सर्वं सुस्थम्। पूजायास्तु कर्ममार्गान्तःपातित्वात्तत्र[1] च न भक्तित्वम्। कर्ममार्गस्य भगवत्सम्बन्धाभावात्सदोषत्वमपि। ननु भगवत्पूजाविधानान्निर्दोषत्वमे

वेति चेत्? सत्यम्। पूजामार्गे पूज्यस्य विभूतिरूपत्वेन शुद्धपुरुषोत्तमत्वाभावान्न सर्वात्मना सर्वदोषनिवर्तकत्वम्। तत्रावाहनादिविसर्जनान्तानामुपचाराणां केवलमन्त्राद्यधीनत्वात्पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वमेव। पुरुषोत्तमस्तु "नाहं वेदैर्न तपसे"ति "भक्त्याहमेकया ग्राह्य" इत्यादिवचनैः केवलमनन्यभक्त्यधीन एव। न तु तदतिरिक्तमन्त्राद्यधीनोपि इति महदेव वैलक्षण्यम्। किञ्च, पूजामार्गे पूज्यदेवताया मोहनोच्चाटनादिलौकिककार्यविनियोगोपि श्रूयते। पूज्यदेवतामन्त्रस्यारित्वादयो धर्माः श्रूयन्ते।न हि सर्वनियामकस्य सर्वेश्वरस्य ब्रह्मादिसर्वोपास्य स्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादेः पुरुषोत्तमस्य सेवकेष्वरित्वादयो धर्माः सम्भवन्ति। अतो गीतास्वपि भगवतोक्तं "समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" इति। तथा श्रीभागवते प्रह्लादवाक्यं "देवोसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा। भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्" इति वचनात्किमतो अधिकं भक्तिमार्गस्य पूजामार्गस्य च तारतम्यं वाच्यम् इति दिक्।।३।।

अतो भक्तिमार्गे निवेदनेनैव सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिरित्यत आहुः अन्यथेति।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।

अन्यथा भक्तिमार्गे निवेदनव्यतिरेकेण सेवाप्रतिबन्धकसर्वदोषनिवृत्तिर्न भवति। कथञ्चनेति प्रकारान्तरव्युदास उक्तः। एवं सेवार्थं सोपपत्तिकां सर्वदोषनिवृत्तिमुक्त्वाग्रे तादृशस्य यावज्जीवं दोषसङ्क्रान्त्यभावार्थं स्थितिप्रकारम् आहुः असमर्पितवस्तूनाम् इति। यतोस्मिन्मार्गे भगवत्सम्बन्धाभाववद्वस्तुसंसर्गस्यैव दोषत्वम्, अतः स्वार्थं भगवदसमर्पितवस्तूनां वर्जनमाचरेत्। संसर्गमपि न कुर्यात् इति अर्थः।।४।।

एवसमर्पितवस्तुमात्रत्यागे तादृशस्याग्रे लौकिकालौकिकव्यवहारसिद्धिः कथम् इति आकाङ्क्षायां तादृशस्य व्यवहारसिद्धिप्रकारम् आहुः निवेदिभिरिति।

१ पातात्दिति पाठः।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कार्यमिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।।५।।

निवेदिभिः स्वमार्गानुसारेण कृतात्मनिवेदिभिः, सर्वं लौकिकं वैदिकं च, लौकिकं पुत्रादिविवाहाद्यर्थं, ब्राह्मणभोजनाद्यर्थं स्वोपभोगार्थं च कृतं वैदिकं श्राद्धयागादिकम्। श्राद्धार्थमपि निष्पादितं पाकादिकं सर्वं यागार्थं सम्पादितं घृतान्नादिकं सम्भारादिकं च सर्वं भगवते निवेद्यैव भगवन्निवेदनानन्तरं पश्चात्सर्वं कार्यम् इति। सम्भाराणां तदाज्ञापूर्वकमेव करणं निवेदनम्। तथाच स्मर्यते श्रीभागवते सप्तमस्कन्धे "विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत" इति वचनादियं भक्तिमार्गमर्यादा। मर्यादा नामानुल्लङ्घ्याज्ञा। यथा वेदादिमर्यादोल्लङ्घनेन कार्यकरणे कर्ता दोषभाग्भवति तथात्रापि भक्तिमार्गमर्यादोल्लङ्घनेन कार्यकरणे भक्तिमार्गीयोपि दोषभाग्भवति इति ज्ञापनाय स्थितेर्मर्यादात्वमुक्तम्। स्थितिरिति। एवं वस्तुमात्रस्य निवेदनावश्यकत्वमुक्त्वा कदाचिद्भगवदर्थं सम्पादितपदार्थेषु केनचिद्बहस्थितेन बालकेन स्त्र्यादिना वा अज्ञानात्तन्मध्ये किञ्चित्स्वार्थमन्यार्थं वा विनियुक्तं चेत्, तदा भगवदर्थं सम्पादितं वस्तु सामिभुक्तमर्धभुक्तं जातम्, तदवशिष्टसमर्पितम् इति ज्ञात्वा स्वोपभोगार्थं चेत्समर्पितुमिच्छति तत्समर्पणस्य भक्तिमार्गे निषेधम् आहुः न मतम् इति। देवदेवस्य देवा ब्रह्मादयः तेषामपि देवस्याराध्यस्य पुरुषोत्तमस्य तत्समर्पणं न मतम्, सामिभुक्तस्य समर्पणं न मतं, भक्तिमार्गे न सम्मतं, न कर्तव्यम् इति अर्थः। शुद्धपुष्टिमार्गप्रवर्तकाचार्याणां न सम्मतं, न कर्तव्यम् इति अर्थः। अथवा स्वोपयोगार्थमानीतं वस्त्रादिकं तन्मध्ये स्वोपयुक्तं भगवते समर्प्य स्वोपभोगं[1] कृत्वा तदवशिष्टं चेद्भगवते समर्पितुमिच्छति, तदपि सामिभुक्तम् इति तस्यापि समर्पणं देवदेवस्य न मतम् इति।।५।।

एवं सामिभुक्तसमर्पणनिषेधमुक्त्वा सर्वात्मना सर्वथा सदाकर्तव्यप्रकारम् आहुः तस्मात् इति।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमपर्णम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।६।।
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

यस्मात्पूर्वमसमर्पितवस्तुसम्बन्धो न कर्तव्य इति उक्तम्, पश्चादधर्ममुक्तसमर्पणमपि न कर्तव्यमित्युक्तम्, तस्मादादौ स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्यापुत्रादीनामपि समर्पणं कर्तव्यम्। विवाहानन्तरं स्वोपयोगात्पूर्वमेव स्वोपयोगार्थमेव तन्निवेदनं कर्तव्यम्। एवमपि पुत्रोत्पत्त्यनन्तरमपि पुत्रादीनां समर्पणं कर्तव्यम्। सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्तत्कार्योपयोगिवस्तुसमर्पणं कार्यम्। समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्तव्यानि इति अर्थः। अत्र कश्चित्पूर्वपक्षी शङ्कते। ननु भक्तिमार्गे भगवन्निवेदितस्यैवं वस्तुनः स्वार्थं विनियोगः कर्तव्यः, न तु अनिवेदितस्येति नियम उक्तः। तस्यैकादशस्कन्धे निषेधोपि श्रूयते।

१ स्वोपयोगमिति पाठः।

यथा। "अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्" इति आशङ्कां मार्गभेदेन परिहर्तुम् आहु: दत्तापहारवचनम् इति। दत्तस्य नैवेद्यादेरपहार: पुन: स्वार्थग्रहणम्। तथा च तद्वत्सकलं दत्तवस्त्रादिकमपि सकलं न ग्राह्यम् इत्यादिवचनं स्मृत्यादिवाक्यं भिन्नमार्गपरं मतम्। भिन्नमार्गपरं द्विविधभक्तिमार्गातिरिक्तकर्ममार्गपूजादिमार्गपरम्। तत्र हेतु:। तस्मिन्मार्गे पूजामार्गे भक्तिमार्गत्वाभावान्निवेदनस्वरूपस्यैवाप्रसिद्धे:। भक्तिमार्ग एव निवदनस्योक्तत्वात्। अत एव श्रीभागवते "श्रवणं कीर्तनम्" इति नवधोक्तभक्तौ निवेदनस्याप्युक्तत्वाद्भक्तिमार्गे एव निवेदनम्, नान्यत्र। तथा च तत्रैव एकादशस्कन्धे "दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनं। एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्यार्थोस्यावशिष्यत" इति भक्तिमार्ग एव भक्तिजनकत्वेन निवेदनप्रकार उक्तः। तस्मात् भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यत्वात्स्वस्य सेवकत्वाद् भक्तिमार्गे सेवकस्यभगवदुपभुक्तभगवदुच्छिष्टेनैव स्वनिर्वाहस्यावश्यकत्वात्, अत एव श्रीमदुद्धवैरुक्तम्। "त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासा" इति उक्तत्वात् दासानम् उच्छिष्टभोजनमेव स्वधर्मः भुक्तावशिष्टसैवोच्छिष्टत्वात्तत्समर्पितस्य भोजनं भक्तिमार्गे एव, न तु मार्गान्तरे। अत एव भगवदाप्युक्तं "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन" इति। 'भक्त्युपहृतमश्नामि' इति वचनात् भक्तिमार्गे एव भोजनस्यावश्यकत्वम्, न तु तदतिरिक्तपूजामार्गेपि। अतो भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गेषु नैवेद्यादेर्दानमेव निवेदनपदवाच्यम्, न तु भक्तिमार्गवत्समर्पितस्याङ्गीकारः। दानं नाम स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं परसत्तापादनम्। यथा ब्राह्मणाय गौर्दीयते, तत्र स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं ब्राह्मणसत्तापादनं क्रियते। पुन: सा गौ: स्वोपभोगाय न भवति। तथा च भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे नैवेद्यादिरपि। अत एव दत्तापहारवचनम् इति दत्तापहारवचनं नैवेद्यविषयम्। तथा च सकलं नैवेद्यातिरिक्तं भगवद्दत्तवस्त्रादिकं तत्सर्वं हरे: सम्बन्धि न ग्राह्यम् इति यदुक्तम्, तद्भिन्नमार्गपरम्। भक्तिमार्गातिरिक्तपूजामार्गादिपरम्, मतम् इति सर्वप्रमाणसम्मतम् इति अर्थः। प्रमाणं तु 'त्वयोपभुक्ते'ति पूर्वम् उक्तमेव।।६।।

एवं भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे पूज्यनैवेद्याद्यग्रहणं सोपपत्तिकम् उपपाद्य भक्तिमार्गे भगवद्भुक्तोच्छिष्टेनैव भगवदीयानां व्यवहार: कर्तव्यो, नान्यथेति ज्ञापनाय आहु: सेवकानाम् इति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिध्यति।।७।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत:।

सेवकानां दासानां भगवदीयानां भगवदुच्छिष्टमेव ग्राह्यम्, नान्यत् इति अयं व्यवहार: प्रकार: यथाग्रे नि:शङ्कं लोके प्रसिद्धो भवति तथा अतिप्रसिद्धतया नि:शङ्कतया सेवकै: समर्प्यैव कार्यम्। सिद्धौ प्रकर्षो नि:शङ्कता। ततस्तादृक्प्रकारकव्यवहारकरणेनैव सर्वेषां भगवदीयानां ब्रह्मता भवति। ब्रह्मता नाम "निर्दोषं हि समं ब्रह्मे"ति वचनात्सर्वेषां निर्दुष्टत्वं भक्तिमार्गे निवेदनानन्तरं समत्वं च ज्ञापितं भवति। सर्वेषां सजातीयत्वं

भवति, भगवदीयत्वं भवति इति अर्थ:। यद्यपि ब्रह्मणि अनन्ता एवोपनिषन्निरूपिता धर्मा: सन्ति, तथापि अत्र सेवोपयोगिनिर्दुष्टत्वं भगवदीयत्वेन समत्वं च सर्वेषां भक्तिमार्गे भजनोपयोगित्वेन द्वयोरेव निर्देश: कृत:।।७ १/२।।

ननु भक्तिमार्ग प्रवेशेपि सत्त्वादिगुणभेदेन प्रकृतिवैषम्याद्भगवदीयत्वेपि कथं सर्वेषां समत्वम् इति आशङ्क्य गङ्गादृष्टान्तेन परिहरन्ति गङ्गात्वम् इति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।।८।।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ १/२।।

यथा सर्वजलदोषाणां तावदेव गुणदोषादिवर्णना भवति, यावद्गङ्गाप्रवेशो न भवति। गङ्गाप्रवेशानन्तरं सर्वेषां जलानां गङ्गात्वेनैव सर्वधर्मोपयोगित्वं भवति। तद्वत् यावत्पर्यन्तं भक्तिमार्गीयाचार्यै: कृतं निवेदनं न भवति, तावदेव भगवद्भजने तदीयगुणदोषादिविचारणं सम्भवति। भगवदीयत्वे सम्पन्ने पूर्वाशङ्कितसत्त्वादिगुणभेदकृतदोषाणां भजनबाधनं न सम्भवति। अत एव श्रुतावपि "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति वरणस्यैव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वम् उक्तम्, नतु सत्त्वादिगुणप्रकृतिदोषाणां बाधकत्वम्। तथा सर्वेषां जलानां गङ्गात्वे सति गुणदोषादिवर्णना न निरूप्या स्यात्, तद्वदत्रापि भक्तिमार्गेपि भगवदीयत्वसम्पत्त्यनन्तरं सर्वदोषनिवृत्ति:। तद्वत् इति अत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयो ज्ञेय:। यथा भगवन्निवेदनेन सेवाप्रतिबन्धकदोषनिवृत्ति: तथा स्वोपयोगिपदार्थदोनिवृत्तिर्भवति भगवन्निवेदनेनेति ज्ञापनाय चकार:। स्वोपयोगिपदार्थदोषनिवृत्तौ उपायान्तराभावायैवकार:। भगवन्निवेदनेनैव सर्वदोषनिवृत्ति:, न तु प्रकारान्तरेणेत्यस्यार्थस्य युक्तत्वज्ञापनाय हिशब्द:। अत्रायमाशय:। भगवच्चरणारविन्दैकदेशाङ्गुष्ठभिन्नब्रह्माण्डकटाहविवरोद्गतजलस्य चरणाङ्गुष्ठसम्बन्धमाहात्म्येन यत्र लोके गङ्गासम्बद्धजलादेर्गङ्गाया: सर्वदोषनिवर्तकत्वम्, तत्र भक्तिमार्गे साक्षात्पुरुषोत्तमस्यैव सम्बन्धात्सर्वेषां चेतनाचेतनानां सर्वदोषनिवृत्तौ किं वाच्यम् इति ज्ञापनाय हिशब्द:।।८ १/२।।

भक्तिसिद्धान्तवाक्यानां श्रुतानां भगवन्मुखात्।
स्वाचार्यै: पद्यबन्धानां स्वीयानां बोधसिद्धये।।१।।
व्याख्यानं[१] कृतमाचार्यपादपद्माभिधेन मे।
स्वाचार्यास्तेन तुष्यन्तु मयि नि:साधने स्वत:।।२।।

इति श्रीमत्पितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचिता पुरुषोत्तमसिद्धान्तविवृति: समाप्ता।[५]

१ "व्याख्या कृता मयाचार्यपदपद्माभिधेन या। तयाचार्या: प्रतुष्यन्तु मयि नि:साधने स्वत" इति पाठ:।

२ "कृत्वा पद्यानि साक्षात् स्वयमनुभगवत्प्रोक्तवाक्याक्षराणाम्
स्वीयानां तत्तदर्थं स्फुटतरकथनं नान्यगम्यं विदित्वा।
गोत्रे श्रीवल्लभाख्य: पुनरपि किल सम्भूय पद्यानि तानि
व्याख्यातार्थानि मन्ये स्वयमिह कृतवान् श्रीमदाचार्य एव।।१।।"

श्रीगोकुलेशकृता टीका भक्तिसिद्धान्तसिद्धिदा। स्वसाधनस्थभक्तानां पादपद्मानुवर्तिनाम्।।२।।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीरघुनाथकृतविवृतिसमेतम्।

दीनानुकम्पी यो भूत्वा श्रीमद्वल्लभनन्दनः।
प्रणिनाय निजं मार्गं तं वन्दे नन्दनन्दनम्।।१।।
श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

अमले शुक्ले, महानिशि अर्धरात्रे, साक्षाद् अव्यवधानेन भगवता यत्प्रोक्तम् उपदिष्टं तदेवाक्षरशो अक्षरैः पद्यवाक्यादिरूपैः प्रदर्श्यत इति अर्थः।।१।।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः।।२।।

बृहत्त्वाद्बृह्म पुरुषोत्तमः तत्सम्बन्धस्तस्मिन्देहात्मनोर्निवेदनलक्षण

स्तत्करणात्सर्वेषामाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषां दोषाणां वक्ष्यमाणपञ्चविधानां दोषाणां निवृत्तिर्भवति इति अर्थः। हिशब्दः प्रसिद्धिं द्योतयति, सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यादिषु।।२।।

तत्र के ते दोषा इति अपेक्षायाम् आहुः सहजा इति।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन।।३।।

देहेन सहैवोत्पन्नाः कुष्ठापस्मारादयः। जीवदोषाः कामक्रोधादयः। देशोत्थामगधम्लेच्छादिदेशोत्थाः। कालो रौद्रः कल्पादिरूपस्तदुत्थाः संयोगः पतितादिसंसर्गः। स्पर्शो निषिद्धेन्द्रियार्थसंयोगः। चकारात्कर्मजा अपि। ते सर्वेपि लोके वेदे च कथिता इति अर्थः। तत्र केशभस्तुषाङ्गारादिदूषितप्रदेशस्थितिः। सन्ध्यायां चतुष्पथादि सेवनम्। म्लेच्छादिस्पर्शः। मुखरतिः। अद्वारेण प्रवेशनम् इत्यादयो लोकप्रसिद्धाः। तस्मादाहिताग्निः श्रद्धादेवः स्वकृत हरिउषरभूमिनावस्येत्[1]। नामावास्यायां च पौर्णमास्यां च स्त्रियमुपेयात्। तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेत, न सहासीत, नास्या अन्नमद्यात्, या मलवद्वाससा सम्भवति। तस्माद्बाह्मणाय नापगुरेते इत्यादयो वेदप्रसिद्धा दोषाः। ते सर्वे दुरत्यया अपि दोषा न मन्तव्याः। कथञ्चन कथमपि इति अर्थः। भगवत्सम्बन्धे सम्पन्ने एते दोषाः किं करिष्यन्ति इति भावः।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।

१ स्वकृतद्वरणेनावस्येत् इति पाठः।

अन्यथा यदि भगवत्सम्बन्धो नं भवेत्तदा कथमपि कदाचिदपि सर्वदोषाणां निर्वृत्तिः न भवेत् इति अर्थः। यस्मात्सम्बन्धाकरणे दोषानिवृत्तिस्तस्मादसमर्पितानां भगवत्यनिवेदितानां वस्तूनामुपभोगादिव्यवहारे वर्जनं कुर्यात् इति अर्थः। स्वयं कुर्यात्सेवकैः कारयेत् इतिभावः।।४।।

ननु हट्टादिस्थितवस्तूनामसमर्पितत्वादवश्योपादेयानां कथं व्यवहारे स्वीकार इति अत्र आहुः।

निवेदिभिः समप्यैंव सर्वं कार्यमिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।।५।।

अनन्यगत्या एवंविधस्थले हट्टाश्रितवस्तुस्वीकारेपि[1] निवेदनवद्भिः पुरुषैः समप्यैंव पश्चात् सर्वं कार्यम्। कुर्यात् इति प्रमादपाठः। इति स्थितिः एतादृशी मार्गमर्यादेत्यर्थः। अन्यमार्गीयं किञ्चिदुद्धाव्य तन्निषेधपूर्वकं स्वसिद्धान्तम् आहुः न मतम् इति। भुक्तभोजनम्। समर्पणं भगवति निवेदनम्। द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचनम्। सामीत्येतदर्धवाचकमव्ययम्। तेनायमर्थः सम्पन्नः। सम्पादितवस्तूनामर्धं कृत्वा एकांशेन स्वोपभोगेऽनिवेदितेन पुनरन्यांशेन नैवेद्यादिरूपेण समर्पणम्। यदुपभुज्यते तदसमर्पित (यत् समर्पितं) तन्नोपभुज्यत इति यत्सामि द्वैविध्येन व्यवहारो बहिर्मुखानां तद्देवदेवस्य विष्णोर्मतं सम्मतं न भवति। मतं सिद्धान्तम् इति वा। यस्मात्सर्वांशेनासमर्पणं भगवद्मतं तस्मात्सर्वस्मिन्नपि कर्तव्यत्वेन प्राप्ते कार्यमात्रे आदौ प्रथमत एव सर्ववस्तूनां समर्पणं कुर्यात् इति शेषः।

"नन्वपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यात्" इत्यादिवचनैर्दत्तापहार

त्वादिदोषसम्भवे कथं न मतम् इत्यत आहुः **दत्तापहारवचनम्** इति।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।
न ग्राह्यमितिवाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।।६।।

निवेदितस्वीकारे दत्तापहारलक्षणो दोषो भवति इत्येतदर्थकं यद्वचनं तथा च तथैवान्यदपि यत्सकलमनिवेदितश्राद्धादिविषयकं तत्सर्वमपि हरेः हरिसम्बन्धित्वेन न ग्राह्यं, न ज्ञेयम्, इति अस्मिन्नर्थे वाक्यं वाक्यानि सन्ति इति अर्थः। जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। तानि वाक्यानि प्रसिद्धानि सन्ति इति हिशब्दार्थः। तथा चोक्तं भगवता "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्" इति। ब्राह्माण्डपुराणेपि "पत्रं पुष्पं फलं तोयं पानमन्नाद्यमौषधम् अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम्। अनिवेद्य प्रभुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः। तस्मात् सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदा। मुकुन्दाशनशेषं तु यो हि भुङ्क्ते दिने-दिने। सिक्थे-सिक्थे भवेत्पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम्। भुक्त्वान्यदेवनैवेद्यं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्। भुक्त्वा केशवनैवेद्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते। अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नाद्यमौषधम्। अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी"। श्रीभागवतेपि "त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे" त्यादिनोक्तम्। "विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवता-

१ तादृशवस्तुस्वीकारे इति पाठः। सि.र. २

न्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत'' इत्याद्यपि ज्ञेयम्। तर्हि निवेदितस्वीकारे निषेधवाक्यस्य का गतिरिति तत्राहु: भिन्नमार्गेति। भिन्न: पृथक् कृतो मार्गो भक्तिमार्गो येभ्यस्ते भिन्नमार्गास्तत्परं तदधिकारकमिदं भवति इत्येतन्मतं सम्मतम्। ये शास्त्रार्थापरिज्ञानेनान्यथा कथयन्ति, ते आसुरा एव। अत: सर्वथोपेक्ष्या इति भाव:।

नन्वेकवारमादावेवात्मना सह सर्वं निवेदितमेवास्ति किं पुन: पुनर्निवेदनेनेत्यत आहु: सेवकानाम् इति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिध्यति।।७।।
तथा कार्यं समप्यैंव सर्वेषां ब्रह्मता तत:।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।।८।।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ १/२।।

यने प्रकारेण सेवकानामपि निवेदनव्यवहार: प्रकृष्ट: सिद्धो भवति तदर्थं स्वयं समप्यैंव सर्वं कार्यम्। एवं कृते सर्वेषामपि ब्रह्मता निर्दोषत्वम् इति अर्थ:। ननु शरीरेण सहैव निवर्त्यानां कथमेवं निवृत्तिस्तत्र आहु: तत इति। तत: ब्रह्मातानन्तरं स्थितानामपि दोषाणां गङ्गात्वं गङ्गातुल्यत्वम् इति अर्थ:। यथा गङ्गातिरिक्तापवित्रजलानां गङ्गाप्रवाहान्त:पातित्वे सम्पन्ने गङ्गात्वमेव, तेषां न तत: पृथग्भाव:, गङ्गात्वे सम्पन्ने पूर्वकालीनगुणदोषादिकथा यथा जलानामनिरूप्या भवति, तद्वदेवात्रापि भगवत्सम्बन्धे जाते पञ्चविधदोषाणां स्थितानामप्यदोषत्वमेवेत्यर्थ:। एवशब्दो अवधारणे। हिशब्द: प्रसिद्धौ।

इति श्रीरघुनाथकृतं सिद्धान्तरहस्यविवरणम्।

श्रीकृष्णाय नम:।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीकल्याणरायकृतविवृतिसमेतम्।

फलात्मा फलसम्प्राप्त्यै प्रादुर्भूय स्वसेविनाम्।
साधनं स्वयमेवासीत् स कृष्णोस्तु मम प्रभु:।।१।।

श्रीकृष्णेनानेकजीवोद्धारार्थमाज्ञप्तोहमेते जीवा: स्वभावतो दुष्टा धनाद्यासक्तादुष्टपदार्थैर्व्याप्ता: कथमेतेषां दोषनिवृत्तिरुद्धारश्च भविष्यति इति चिन्ताकुलान् श्रीवल्लभाचार्यान् विदित्वा भगवान् एकान्तसमये चिन्तानिवर्तकमुपायमुक्तवान्। तत: श्रीवल्लभाचार्या भगवान् यस्मिन् मासे पक्षे दिवसे समये यथा यदुक्तवान् तत्सर्वनिरूपणपूर्वकं भगवदुक्तमक्षरै: पद्यबन्धेन वक्तुं प्रतिजानते।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

श्रावणे मासे शुक्लपक्षे एकादश्यामर्धरात्रे प्रत्यक्षेण भगवता यत्प्रोक्तम्, तदक्षरै: पद्यबन्धेन कथ्यत इति अर्थ:।।१।।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयो:।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषा: पञ्चविधा: स्मृता:।।२।।

तदेव आहु:। ब्रह्मसम्बन्धो नाम स्वमार्गाचार्यद्वारा भगवति निवेदनं तत्करणात् पुन: स्वयंजीवदेहादीनां भगवत्युपयोगकरणात् सर्वेषां देहजीवादीनां **सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति** इति अर्थ:। जीवस्य स्मरणादिना भगवत्युपयोग:, देहस्य सेवादिना भगवत्युपयोग:, अन्नवस्त्रादीनां भगवद्भोगसम्पादकत्वाद्भवत्युपयोग:। हिशब्द: प्रमाणप्रसिद्धिद्योतक:। तत्र कानिचित् प्रमाणान्युच्यन्ते। ''मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यान उद्धव''। ''सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्''। ''भक्ति: पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्''। ''अपि चेत् सुदुराचार:''। ''न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभि:। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया''। ''किरातहूणान्ध्रे''ति। ''विप्रादिद्विषड्गुणयुतात्''। ''य: कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रमी। पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदित:''। ''न हि खलु कलुषच्छवि: कदाचित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्र:। भगवति स हरावनन्यचेता भृशमलिनोपि विराजते मनुष्य:''। ''धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोनर्थनिवारक:''। ''गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्ण: संसारमोचक:''। पद्मपुराणे ''अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्। कृत्वा कृष्णोपयोग्यं हि सदा सेव्यं हि वैष्णवै:'' इत्यादि। के ते दोषा इति आकाङ्क्षायाम् आहु: दोषा: पञ्चविधा: स्मृता इति।।२।।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिता:।
संयोगजा: स्पर्शजाश्च न मन्तव्या: कथञ्चन।।३।।

सहजा: शूद्रत्वकिरातादय:। देशोत्था दुष्टदेशतज्जन्यान्नाद्युपभोगजन्या:। **कालोत्था** दुष्टकालसंसर्गजन्या:। ते लोकवेदनिरूपिता बहव एव सन्ति। **संयोगजा** दुष्टसहासनादिजन्या:, ''संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै। कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्''। ते दोषत्वेन **न मन्तव्या:, कथञ्चन** लौकिकवैदिकप्रकाराभ्यामपि।

प्रकारान्तरेण जीवादीनां सर्वदोषनिवृत्तिर्न भवति इति आहु:।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्ति: कथञ्चन।

पदार्थानां विनियोगप्रकारम् आहु:।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।
निवेदिभि: समप्यैंव सर्वं कुर्यादिति स्थिति:।

निवेदिभिः निवेदयितृभिः **सर्वं समर्प्य** स्वयं भगवदुपयोगादिकं कुर्यात् इति अर्थः।

सर्वत्रोपयोगरूपसमर्पणे प्राप्ते क्वचिन्निषेधमाहुः।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।।५।।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।

देवा ब्रह्मादयस्तेषामपि देवस्याराध्यस्य पुरुषोमस्यान्येनार्धभुक्तस्यावशिष्ट स्यस्वोपभोगार्थं समर्पणम्। अथ च स्मृत्यादौ लोके च यन्निन्दितं भुक्तं भोज्यं तस्य समर्पणं भगवतो भक्तानां च न सम्मतम्, अतो न कर्तव्यम् इति अर्थः। यस्मादन्यभुक्तावशिष्टस्य भगवति समर्पणं निषिद्धम्, **तस्मात् सर्वेषु** कार्येषु कर्तव्येषु आदौ स्वोपभोगात् पूर्वमेव **सर्ववस्तूनां समर्पणं** कर्तव्यम् इति अर्थः। अत एव पुराणेषु ''विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते। पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने। रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन'' इति।

ननु भगवते निवेदितस्यान्नादेर्ग्रहणे दत्तस्यापहारो ग्रहणं स्यात्, ''अपि दीपावलोकं म'' इत्यादिवाक्यैर्निषेधाच्च कथं निवेदितस्य ग्रहणम् इत्यत आहुः।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।६।।

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

दत्तापहारवचनं तथाच हरेः सम्बन्धि सकलं निवेदितं न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि भक्तिमार्गभिन्नपूजामार्गमर्यादामार्गपरम्। अत्रायमाशयः। निवेदनस्य नवविधभक्तावुक्तत्वेन भक्तिरूपत्वात् ''दारान् सुता'' निति सार्धश्लोकेन भक्त्यर्थत्वाच्च पूजामार्गे निवेदनाभावात् तत्र भगवते निवेदनं दानमेव। निवेदने स्वस्वत्वनिवृत्तेरभावान्निवेदितस्य भगवदुपभुक्तस्योच्छिष्टस्य प्रसादत्वेन ग्रहणे बाधकाभावात् विहितत्वाच्च दानस्य स्वस्वत्वनिवृत्तिपरस्वत्वापादनरूपत्वात् पूजामार्गे निवेदितग्रहणे दत्तापहार एव भवति। अत एवोक्तं गरुडपुराणे ''पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद्धरेः। शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासनम्''। ब्रह्माण्डपुराणे ''मुकुन्दाशनशेषं तु यो हि भुङ्क्ते दिने-दिने। सिक्थे-सिक्थे भवेत्पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम्''। श्रीभागवते 'त्वयोपभुक्ते'त्यादि।

अग्रे सर्वेषां दोषाभावार्थम् आहुः।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति।।७।।

तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

स्वकीयानां भगवदीयानां लौकिकव्यवहारो यथा प्रकर्षेण सिध्यति प्रकृष्टो भवति, तथा सेवकैः पदार्थानां भगवदुपयोगं कृत्वैव सर्वं कार्यम्। एवं कृते स्वधर्मेण स्थितौ ततस्तस्माद्व्यवहारादेव ब्रह्मता ''निर्दोषं हि समं ब्रह्मे''ति **ब्रह्मतुल्यता** निर्दोषत्वं वैष्णवत्वेन समत्वमपि भवति इति अर्थः।

ननु ब्रह्मसम्बन्धकरणेपि दोषाणामनुभूयमानत्वात् कथं निर्दोषत्वं समत्वं चेत्याशङ्कां गङ्गादृष्टान्तेन परिहरन्ति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।।८।।

गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ १/२।।

यथा गङ्गासम्बन्धेन गङ्गारूपत्वे सम्पन्ने तेषां जलानां तद्दोषाणां च गङ्गात्वेनैव व्यवहारः तथा ब्रह्मसम्बन्धे सम्पन्ने तेषां धर्माणां भगवदीयत्वेन निर्दोषत्वेनैव व्यवहारो भवति इति अर्थः। हि युक्तोयमर्थः। यो यत्र सम्बद्धः, स तद्रूपो भवति।

श्रीमत्कल्याणरायेण प्रणम्य स्वप्रभून् मुदा।

श्रीमदाचार्यसिद्धान्तरहस्यविवृतिः कृता।।१।।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीव्रजोत्सवकृतविवृतिसमेतम्।

प्रणमामि हरिं कृष्णं कृपास्निग्धेक्षणं विभुम्।

यः स्वीयार्थे रहस्यं स्वं स्वाचार्येभ्यः समादिशत्।।१।।

तदेव पद्यबन्धेन कथितं तैः पुनः स्वतः।

दुर्बोधं तच्च लक्ष्यं स्यात्कृपयैव तदीयया।।२।।

इति तेषामहं श्रीमदाचार्याणां निजाश्रयम्।

नमामि चरणाम्भोजतलं कारुण्यरञ्जितम्।।३।।

अथ साक्षाद्भगवान् दैवोद्धारार्थं स्वाज्ञयैव प्रादुर्भूतान् श्रीमदाचार्यानग्रे वक्ष्यमाणप्रबलदोषैः साक्षाद्भगवद्भजनानधिकरणां जीवानां ''शुद्धश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः। भगवत्सेवने योग्या नान्य'' इति उक्तत्वात् तन्निवृत्तिपूर्वकं पुनर्ब्रह्मसम्पतिव्यतिरेकेण तदर्थमङ्गीकारायोग्यतां मत्वा तद्दोषनिवृत्तिं प्रतीक्ष्यमाणान्दृष्ट्वा स्वयमेतन्मार्गव्यवस्थां सकलमार्गेभ्यो भिन्नामेव ज्ञापयंस्तेषां फलदानविलम्बासहिष्णुः सन् श्रीमदाचार्याणां मार्गाधिष्ठातृत्वात्स्वसिद्धान्तरहस्यं यदाज्ञापयत्, तदेव श्रीमदाचार्यचरणाः प्रत्यक्षरार्थविचारेण निरूपयन्ति।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।

साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

यदात्मानं प्रति **साक्षाद्भगवता** प्रकटीभूय प्रकर्षेण स्वसिद्धान्तरहस्यत्वेनोक्तं तदक्षरशः, यानि भगवदुक्तान्येवाक्षराणि तदक्षररचितपद्यबन्धेन प्रत्यक्षरार्थविचारेण

वा मयोच्यते। तत्र कदा कस्मिन्काले वैतदुक्तम् इति आशङ्कायाम् आहु: श्रावणस्येति। श्रावणमासस्यामले पक्षे। श्रवणस्य विष्णुदैवतत्वात्तदुपलक्षितमासस्यापि तथात्वम्। अत एव लौकिककार्येषु शून्यत्वेन गणनायामपि वैष्णवमन्त्रोपदेशेषु प्रशस्त:। तदुक्तं ''श्रावणे सुखसम्पत्ति''रिति। तेन यथा श्रावणमासस्य दैवतं विष्णु: तथा देवानाम्, तत्रापि पुष्टिमार्गीयाणां दैवतं प्रभु: साक्षाद्भगवान् इति तेषां भगवदधीनत्वमेव, न कालकर्माधीनत्वमितरमार्गीयाणामिव। आतेऽहमेवैतेषां दोषान्नाशयामि, न दानव्रततपआदिसाधनानि। ते नाङ्गीकर्तव्या इति ज्ञापितम्। ननु तथापि भगवता ते दोषा नाशिताश्चेत्, तदाङ्गीकर्तव्या इति चेत्, तत्र आहु: अमले पक्ष इति। स पक्षो यथा स्वरूपतो निर्मल एव, यथा-यथा चन्द्रप्रकाश: तथा रसानन्दपोषेणाह्लादकश्च, तथायं पुष्टिमार्गीयपक्षोपि वस्तुविचारे कृते स्वरूपत: शुद्ध एव जीवकृत्यसाध्य:[1] ब्रह्मादीनामप्यगम्य: केवलाङ्गीकारबलेनैव तादृशानन्दपोषकश्चेति ज्ञापनाय स एव पक्ष उक्त:। एवं सति स्वरूपत: शुद्धत्वेपि पक्षस्य तज्जीवानां तु मध्ये अविद्यान्तरायजनितभगवदानन्दतिरोभावात् दु:संसर्गात्संसारावेशेन दुष्टत्वाद्भगवदङ्गीकारानन्तरमेव मद्भजनाधिकारे[2] सम्पन्ने भजनेनैव ते दोषा यथा-यथा नष्टा भविष्यन्ति तथा-तथा तादृशानन्दपोषणेन ते अतिशुद्धा भविष्यन्ति इति भाव:। ननु भोगं विना कथं नष्टा भविष्यन्ति, तत्र आहु: एकादश्याम् इति। एकादशी हरिदिनमुच्यते। एकादशेन्द्रियशोधिका च। हरिस्तु भक्तानां दु:खहर्ता। यदि मर्यादामार्गेऽपि दु:खं न सहते, तर्हि पुष्टिमार्गे सुतरां न सहते इति भक्तानां दोषभोगक्लेशं न कारयति इति भाव: सूचित:। किञ्च। भजनाधिकारे सम्पन्ने सर्वेषां भगवत्येव विनियोगकरणे ते स्वत एव नङ्क्ष्यन्ति इति कुतस्तद्भोगसम्भावनेत्यपि सूचितम्। ननु तथाप्ययं कलिकालस्तु दोषनिधि:, तत्कथं सर्वथा दोषाभावेन फलं सेत्स्यति, तत्र आहु: महानिशि इति। महानिशा आसुरी वेला महादोषरूपा परन्तु पुष्टिमार्गीयाणामर्थे तस्मिन्नेव समये तान् देषान् दूरीकृत्य प्रकटो जात:, तथात्राप्ययमेव काल: साधको भविष्यति इति तथोक्तम्। ननु कदाचित्तथा प्राकट्यं न भवेत्, तत्र आहु: साक्षात् इति। एतावदलौकिककरणे सामर्थ्यं किम् इति आशङ्कायाम् उक्तं भगवतेति। अलौकिकैश्वर्यादिना स सर्वकरणसमर्थ इति। एवं सत्येतावत्सर्वाभिप्रायज्ञापनायैव श्रावणस्येत्यादिपदै: समय उक्तो, नो चेत्प्रयोजनं विना किमर्थं वदेयु:। एतेनैतदङ्गीकारे दोषनिवृत्तिप्रतीक्षा न कार्येत्युपक्रमेण तात्पर्यार्थ: सूचित:।।१।।

अत: परं जीवाङ्गीकारे दोषनिवृत्तिप्रतीक्षा न कार्येत्युपकारार्थं यदुक्तं तन्निरूप्यते।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयो:।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषा: पञ्चविधा मता:।

१ मूले अयमेव शुद्ध: पाठ:, तथापि केनचित् न जीवकृत्यसाध्य इति कृत:।
२ तत् इति पाठ:।

ब्रह्मेति। भगवान् सर्वेश्वर: सर्वान्स्वदासत्वेनानुगृह्णाति इति जीवानां सहजदासत्वं सदैव वर्तते। एतदेव स्पष्टीकृतं सिद्धान्तमुक्तावल्यां भक्तिहंसे च। ''तदविद्ययान्तरायभूतया स्वस्वरूपविस्मारणेनोन्मार्गगमने सति निवृत्तं प्रभुसेवास्वरूपधर्मानधिकारसम्पादकं दुष्टत्वं च जातम्। तत्तु प्रभोरेवाङ्गीकारेण दूरीकर्तुं शक्यम्, न तु सहस्रजन्मपर्यन्तमपि कृतै: साधनै''रिति। ब्रह्मसम्बन्धकरणानन्तरं साक्षात्पुरुषोत्तमसेवाधिकारे सम्पन्ने तद्भजनेनैव दोषनिवृत्तिर्भविष्यति इति तन्निरूपयन्ति ब्रह्मेति। ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धकरणम्। तच्च श्रीमदाचार्यद्वारा शरणगमनपूर्वकम्। देहजीवयो: सर्वेषां च कोर्थ:? तत्सम्बन्धिनां दारादीनां सर्वेन्द्रियप्राणान्त:करणादीनां च प्रभोश्चरणे समर्पणेन केवलतदीयत्वकरणम्, तत एव देहजीवयो: सर्वेषां च सर्वदोषनिवृत्तिर्भविष्यति। ब्रह्मसम्बन्धे जाते तद्भजनाधिकारे सम्पन्ने सर्वेषां तत्रैवोपयोगेन सर्वे दोषा: स्वयमेव नङ्क्ष्यन्ति इति भाव:। देहजीवयोरित्यत्र जीवस्य स्वरूपत: शुद्धत्वाद्देहसम्बन्धेनैव तस्य दुष्टत्वात्प्रथमं देहग्रहणम्। ते दोषा: के? तत्र आहु: दोषा: पञ्चविधा मता इति। एते दोषा: प्रथमस्कन्धीयसप्तमाध्यायोक्ता:। ''कृष्ण-कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर। त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोसि संसृते''रिति श्लोकार्थविवरणे श्रीमदाचार्यचरणै: स्फुटीकृता: ''कर्मजा: कालजा: स्वभावजा मायोद्भवा देशोद्भवाश्चे''ति। तत्र ये स्वभावजास्ते अत्र सहजा: प्रोक्ता:। ये कालजास्ते कालोत्था:। ये देशोद्भवास्ते देशोत्था:। ये मायोद्भवा अविद्यासंयोगजनिता: स्वधर्मभगवद्धर्माज्ञानादयस्ते संयोगजा उक्ता:। ये कर्मजास्ते स्पर्शजा ज्ञेया:। तत्र यादृशं कर्म, तादृशमेव देहादिकं जीवानां जायत इति नियमस्तदधीनत्वात्। तेन तत्स्पर्शजन्यत्वात् स्पर्शजत्वं तेषामुक्तम् इति भाव:।।२।।

तानेव गणयन्ति सहजा इति।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिता:।
संयोगजा: स्पर्शजाश्च न मन्तव्या: कथञ्चन।।३।।

देहस्य भौतिकत्वात्प्राकृतगुणविचारेष्वेव साहजिकी प्रवृत्तिर्नाप्राकृत इति सहजा दोषा: स्वभावजा उक्ता:। किञ्च, देह इति उपलक्षणम्। सर्वेन्द्रियाणामपि तथोक्ता:। तथैव जीवा: स्वभावतो दुष्टा इति ''अन्यत्सर्वं कर्तव्यम्, भगवद्भजनं न कर्तव्यम्'' इत्यादयश्च जीवानां सहजास्ते। तथैव देशा: सौराष्ट्रमगधादयस्तदुत्था:। पूर्वं ते दुष्टा एव, पुनर्यत्र गमनमात्रेण संस्कारमर्हन्ति, तत्र जन्मस्थित्यादिना विशेषतो दुष्टा:। धर्मवासनापि तेषां नास्ति इति। तथैव जीवस्यापि तद्देहाभिमानात्तथात्वम्। ननु पुण्यदेशोद्भवानां दुष्टत्वं न भविष्यति, तत्र आहु: **कालोत्था** इति। कलिकालस्य प्रबलदोषरूपत्वात्पुण्यदेशानामपि **तद्दोषक**लुषितत्वादाधिदैविकतिरोधानेन सामथ्या भावात्तत्रोत्पन्नदेहानामपि तथात्वमेव। तदभिमानित्वाज्जीवस्य तथात्वं स्पष्टमेव। ननु केचन सन्तोपि भविष्यन्ति, तत्र आहु:

संयोगजा इति। पूर्वोक्तानां सङ्गेन अविद्यासंयोग: सतामपि भवति इति। "तत्संसर्गी च **पञ्चम**" इति वाक्यात्तत्संयोगजनिता दोषास्तेष्वपि वर्तन्त इति तेषामपि तथात्वम्। ननु तादृशानां दुष्टसङ्ग: कथं भवेत्, तत्र आहु: स्पर्शजा इति। परम्परासम्बन्धेनापि तद्द्रव्यान्नादिसंसर्गात्तद्दोषस्पर्शो भवत्येवेति तादृशकर्मस्पर्शजनितत्वात् स्पर्शजा उक्ता:। चकारादनुक्ता अपि ज्ञेया:। परम्परासम्बन्धेनापि स्पर्शो अस्मिनमार्गे बाधक इति समर्पणानन्तरं तादृशानां परम्परासम्बन्धस्पर्शोपि न भवेत्तथा स्थेयम् इति ज्ञाप्यते। यद्वा। संयोगजा इति। यद्यपि केचन समीचीना अपि भविष्यन्ति, तथापि स्वपाण्डित्याभिमानात्तत्तच्छास्त्रमतेष्वेव प्रवृत्या तत्संयोगजनितदोषेण भगवद्भजनधर्मेष्वेवासन्मतिस्तेषाम् इति संयोगजा उक्ता:। भगवद्भजने सन्मतित्वेपि तेषां सकलविधिद्वारैव तत्तन्मार्गे प्रवृत्तिस्ते मार्गास्तादृशा एवेति तथात्वमेव। स्वमार्गास्तु समस्तविधिभिरस्पृष्ट:। स्वमार्गीयप्रभुरपि तदस्पृष्ट एवेति तेषु तत्स्पर्शजनितदोषास्तु वर्तन्त एवेति स्पर्शजा उक्ता:। एवमपि मायोद्भवत्वकर्मोद्भवत्वे निरूपिते। एतेन तत्स्पर्शमात्रगन्धेपि प्रभुभजनानधिकार एवेत्युक्तम्। अत:परमेते दोषा भजनानधिकारसम्पादका इति अत्र प्रमाणम् आहु: लोकेति। लोके स्मृतिपुराणादिषु तत्कृतत्वात्तेषां तथात्वमुक्तम्। अलौकिके वेदे च निरूपिता:। भगसद्भजनानधिकारसम्पादकत्वेन प्रसिद्धा:। तदुक्तम् "नाहं वेदै:" "न रोधयति" इति 'नायमात्मे'त्यादिना। यद्यप्येतादृशेषु सत्सु सर्वथा साक्षात्पुरुषोत्तमभजनानधिकारादयोग्यता,[1] तथापि पुष्टिमार्गस्य लोकवेदातीतत्वेन केवलाङ्गीकारैकलभ्यत्वेन तत्राङ्गीकारकरणे ते दोषा न मन्तव्या:। तस्य भजनाधिकारसम्पादकत्वात्। अङ्गीकारान्तरं भजनेनैव ते नङ्क्ष्यन्ति इति तच्छङ्कापि न कर्तव्येति कदाचनेत्युक्तम्।।३।।

ननु दोषनिवृत्त्यनन्तरमेवाङ्गीकारे का क्षति:, तत्र आहु: **अन्यथे**ति।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्ति: कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।

मदुक्तप्रकारकाङ्गीकाराभावे त्वेतेषां दोषाणां निवृत्ति: कथञ्चन अपि न, सहस्रजन्मपर्यन्तमपि कृतै: साधनैर्न भविष्यति इति अर्थ:। साधनानामस्वधर्मत्वात्। दासानां तु सेवैव स्वधर्म इति अङ्गीकारेणैव तदधिकारे सम्पन्ने सर्वेन्द्रियाणां तदर्थमेव विनियोगे सति तन्नाशो भवेत् इति भाव:। एवमङ्गीकारेण दोषनिवृत्तिप्रकारं निरूप्य ब्रह्मसम्बन्धकरणानन्तरं सेवायां जाताधिकारस्य तस्य देहेन्द्रियादीनां सर्वेषां दु:संसर्गदुष्टान्नसम्बन्धस्य प्रबलबाधकत्वात्, तत्त्यागकथनेनैतन्मार्गस्थितिप्रकाराभाव एव, तदभावे तु सर्वथा पूर्वोक्तदोषानिवृत्तिरिति। समर्पितात्मनो ह्यसमर्पितवस्तुसम्बन्धो बाधक:, तस्मादसमर्पितानां सम्बन्धिनां वस्तूनां असमर्पितानां च वस्तूनां वर्जनं त्यागं कुर्यात्। अत्रेदं भाति। स्वयं समर्पितात्मा प्रभुणा

१ भजनाधिकारायोग्यतेति पाठ:।

साक्षादात्मसात्कृत:। तस्य देहप्राणेन्द्रियान्त:करणादयोपि तदङ्गीकृतास्तदधीना: साक्षात्सेवैकव्रता भगवत्स्वरूपतत्सम्बन्धिस्वरूपान्तर्गतस्वस्वविषयग्रहणैकधर्मा:, अन्ये तु स्वव्यतिरिक्ता: सर्वे बान्धवादय उदासीनाश्च भगवदनङ्गीकृता: पूर्वोक्तसेवानधिकाररूपबलदोषदुष्टा:[1] असमर्पितात्मान:, तेषां संसर्गश्च बाधको विजातीयत्वादस्वधर्मत्वाच्चेति तत्सङ्गनिषेध उक्त:। एवं सति स्वसमर्पितानां देहप्राणेन्द्रियादीनां तत्सम्बन्धिनां च प्रत्येकं केषामप्यसमर्पितसंसर्गो न कार्य:। तत्तदिन्द्रियविषयत्वेन तद्ग्रहणं न कर्तव्यम्। अनेन सर्वथा समर्पितेष्वेव सङ्ग: कर्तव्य:। तेन च भगवत्येव सर्वेषां विनियोगो भविष्यति इति सूच्यते। तथा हि। सर्वथा समर्पितात्मानो ये ते साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिव्यतिरिक्तं न कञ्चिद्गृह्णन्ति। तेषां नेत्राणि तत्स्वरूपमेव स्वविषयं गृह्णन्ति, नत्वन्यत्तद्व्यतिरिक्तम्। रसनेन्द्रियं तु तत्साक्षाद्भुक्तावशिष्टं स्वसमर्पिताङ्गीकारकरणेन परमसौभाग्यकारकं तद्दत्तमहाप्रसादरूपमलौकिकरसात्मकश्रीमदास्यामृतमेवास्वादयति। घ्राणस्तु तत्स्वरूपसौरभाघ्राणमेव करोति, तदुपभुक्तपुष्पाद्याघ्राणं वा। त्वगपि स्पर्शं तदङ्गस्यैव, तत्सम्बन्धिवस्तुनो वा। श्रवणमपि तद्वचनानि तद्गुणानेव वा श्रृणोति। एवमेव कर्मेन्द्रियाण्यपि तत्सम्बन्धिकार्यमेव कुर्वन्ति, न तु प्राकृतविषयं किमपि गृह्णन्ति। तादृशानां भगवदीयानामैहिकमपि सर्वं भगवन्निमित्तकमेवेति सर्वथा प्राकृतविषयग्रहणाभाव एवेति तत्सङ्गेनास्यापि सर्वेषां तत्रैव विनियोग: सम्पत्स्यत इति तात्पर्यार्थ:। अनेन समर्पणानन्तरं प्रभुसम्बन्धिव्यतिरिक्तकार्यं किमपि सर्वथा न कर्तव्यम्। तत्करणे त्वितरसम्बन्धेन तद्दोषसङ्क्रान्त्या बाहिर्मुख्यं स्वधर्महानिश्च स्यात् इति भावो ज्ञापित:। एवं सति श्रवणादिकमपि तादृशभगवदीयमुखेनैव कार्यम्, नेतरेणेत्यपि सूच्यते। तच्छ्रवणस्य साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धिताभावात्। किञ्च, कदाचिद्बहि:संसर्गेपि तद्द्रव्यान्नादिकं सर्वथा न ग्राह्यम् इति वस्तुपदकथनेन द्योत्यते। एवं सति लौकिकदेहनिर्वाहादिकं वैदिकमपि यावत्तावत्सर्वं समर्पितेनैव कार्यम्, न त्वसमर्पितेनेत्यपि ज्ञापितम्।।४।।

ननु स्वस्य तु समर्पणं जातम् परन्तु यावत्पर्यन्तं दारादीनां समर्पणं प्रत्येकं न भवेत्, तावत्पर्यन्तं तत्सम्बन्धस्य बाधकत्वमाशङ्क्य तत्र तदभावप्रकारम् आहु: **निवेदिभिरि**ति।

निवेदिभि: समप्यैंव सर्वं कुर्यादिति स्थिति:।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।।५।।

स्वसम्बन्धि सर्वं समप्यैंव प्रभुसेवां कुर्यात्, न तु तन्मध्ये किञ्चिदप्यर्थं स्थापयित्वेति समर्पणमर्यादा। सा पूर्वमपि निवेदिभिस्तथैव कृता, आधुनिकैरपि तथैव कर्तव्येति शेष:। एवं सति स्वात्मना सह दारादीनामपि समर्पणं जायते। तेषामनुकूलत्वे सेवोपयोगित्वेन संसर्गे न कोपि दोषप्रसङ्ग:। प्रतिकूलत्वे त्याग एव कर्तव्य इत्येतत्सर्वं "सर्वेषां प्रभुस-

१ पुष्टेति पाठ:। सि.र. ३

म्बन्ध'' इति श्लोके नवरत्ने प्रभुचरणैरेव स्फुटीकृतम्। सेवाधिकारस्तु विशेषतः पृथगङ्गीकारे भविष्यति। एतेन यत्र दारादीनामात्मदेहार्धभूतानामपि संसर्गस्य स्वात्मना सहसमर्पितत्वेन तत्रापि सेवोपयोगित्वेनैव न बाधकत्वम्, अन्यथा तथात्वमेव, तत्रान्येषामतादृशानां तथात्वे किं वाच्यम् इति कैमुतिकन्यायोपि सूचितः। अथवा निवेदिभिस्तादृशैः सर्वथा प्रपन्नैः सह सा पूर्वोक्ता मर्यादा कर्तव्या किन्तु सर्वमेव स्वकीयं समर्प्य सर्वेषां भगवत्येव विनियोगं कुर्यात् इति दुष्टसङ्गो निवारितः। एतेनासमर्पितानां सङ्गं त्यक्त्वा सर्वथा प्रपन्नैः सह सङ्गः कार्य इति उक्तम्। ननु यदि दारादीनां सेवाधिकारो विशेषतः पृथक् ब्रह्मसम्बन्धकरणेनैव भवति, तदा स्वात्मना सह समर्पणस्य किं प्रयोजनं तत्र आहुः न मतम् इति। अयं भावः। जीवस्यात्मदेहसम्बन्धिदारादिधनपर्यन्तं यद्वस्तु तत्सर्वं स्वस्वरूपान्तःपात्येवास्ति इति सर्वेषां प्रत्यहमन्यत्र स्वार्थं वोपयोगस्य पूर्वं जायमानत्वात्तस्मिन्सत्येव तन्मध्ये केवलमात्मनः समर्पणं सामिभुक्तस्य तद्भवति, तद्देवदेवस्य प्रभोर्मतं न। देव एव स्वयं निर्दुष्टो निर्दुष्टवस्तुन एव भोक्ता भवति। तस्याप्ययं देवः सर्वोत्कृष्टः। यः सर्वोत्कृष्टः स सर्वथा निर्दुष्टपदार्थस्यैवोपभोगं करोति। निर्दुष्टत्वं तु सर्वांशेनान्यसम्बन्धत्यागेन[1] केवलं तदीयत्वकरणेनैव भवति इति तेषामन्यत्रोपयोगे विद्यमान एव तन्मध्ये केवलात्मसमर्पणस्य सर्वांशेन स्वकीयत्वाभावात् सामिभुक्तत्वेनोपभोगार्थं न सम्मतम् इति अर्थः। यत्रैतत्प्रकारकसमर्पणस्यैव सामिभुक्तत्वम्, तत्र प्रमादतः स्त्रीबालादिभुक्तावशिष्टस्य निषेधस्तु प्रमाणसिद्ध इति तस्य सामिभुक्तत्वेनासम्मतत्वे किं वाच्यम्। किञ्च, दासस्याप्यसमर्पितवस्तुसम्बन्धस्य बाधकत्वात्स्वधर्महानिप्रसङ्गे स्वानुपयोगित्वेन तादृशं समर्पणं प्रभोर्न मतम् इत्यपि ज्ञेयम्।।५।।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।६।।
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति।।७।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

तस्मादादावेव सर्ववस्तूनां दारादिधनपर्यन्तानां देहप्राणेन्द्रियादीनां समर्पणं कर्तव्यम्, अत्र प्रयोजनं सर्वकार्ये ऐहिकपारलौकिककार्ये। ऐहिकं भगवत्सेवामात्रोपयोगित्वात् तत्-तत् इन्द्रियविषयत्वेन स्त्रीपुत्रादिग्रहणं तन्निर्वाहादिकं च। पारलौकिकं तु सर्वेषां पूर्वोक्तानां साक्षाद्भगवदर्थोपयोगरूपकार्यम्, तदर्थं यथा भगवत्येव सर्वेषां विनियोगो भवेत्, नान्यत्र, तथान्यविनियोगादिकं त्याजयित्वा तद्विनियोगार्थमेव सर्वेषां वस्तूनां देहादिदारान्तानां तत्तत्पदार्थानां समर्पणं कर्तव्यम् इति अर्थः। एवं सति सेवोपयोगित्वेनात्मशोधकत्वेन

१ सम्बन्धाभावेनेति पाठः।

साक्षादलौकिकरसात्मकत्वेन प्रभूपभुक्तं तद्दत्तमहाप्रसादत्वेनैव तत्तत्पदार्थेन तावन्मात्रदेहादिनिर्वाहादिकमपि कर्तव्यम्, न तु भोगत्वेन लौकिकाद्युत्साहेन च अधिकव्ययादिकम् इत्यपि ज्ञापितं भवति इति सर्वमनवद्यम्। ननु निवेदितस्य सर्ववस्तूनां समर्पणेन भगवदीयत्वे जाते तद्ग्रहणनिषेधः शास्त्रेषु श्रूयते, तत्र आहुः दत्तेति। स्पष्ट एवार्थः। इदं भिन्नमार्गपरं वचनम्, न तु स्वमार्गीयम्। स्वमार्गप्रकारस्तूच्यते सेवकानाम् इति। सेवकानां दासानां यथा व्यवहारः लोके लौकिके प्रसिद्धो वर्तते। तथा हि। सेवकस्य दासस्य सर्वं प्रभोरेव, गृहादिकमपि प्रभोरेव, न तु स्वस्येत्यखिलं तदधीनम् इति। तस्यायं धर्मः। यत्सर्वेषां तत्रैवोपयोगकरणेनाहर्निशं तदेकपरतया यावद्भोगसामग्र्यादिकमपेक्षितम्, तत्तत्सामयिकं तत्सर्वं सम्पाद्य तदुपयुक्तं करोति। ततस्तदुपयोगे जाते स्वदेहादीनां दारादीनां च सार्थकत्वे सम्पन्ने तदुपयोगानवसरे कृपया तद्दत्तप्रसादस्य पूर्वोक्तधर्मरूपत्वात्तेनैव देहनिर्वाहादिकं तत्सम्बन्ध्यैहिकं च तन्मात्रोपयोगि करोति तथा निवेदिनापि सर्वं समर्प्यैव कार्यम्। यस्य यादृक्प्रकारेण हि उपयोगः सम्पन्नो भवति, तादृक्प्रकारेणैव स्वप्रभावुपयुक्तं कृत्वा तदुपयोगानवसरे तद्दत्तत्वात्पूर्वोक्तधर्मरूपेण तदुपभुक्तपदार्थेन[1] तावन्मात्रोपयोगि देहनिर्वाहादिकमन्यदप्यैहिकं कार्यं कुर्यात्, न तु भोगादिभावेनेति स्वमार्गप्रकार उक्तः। एवं स्थितौ सर्वेषां निर्दुष्टत्वं भवेत् इति आहुः सर्वेषाम् इति। सर्वेषां पूर्वोक्तानां देहप्राणेन्द्रियादीनां ततस्तदनन्तरं तादृक्प्रकारकस्थित्यनन्तरं ब्रह्मता भवति। सर्वेषु तदीयत्वस्फूर्त्या तदर्थमेवोपयोगकरणात्प्राकृताध्यासनिवृत्त्या सच्चिदानन्दरूपता तिरोहितानन्दस्य प्रकटतत्त्रितयात्मकता भवति इति अर्थः। एतदेवोक्तं ''ततः संसारदुःखस्ये''त्यत्र 'वस्तुस्वभावाद्भवत' इति। किञ्च, तद्दत्तमहाप्रसादस्यापि तथात्वेन ग्रहणाद्ग्राह्याभ्यन्तः शुद्ध्या मायांशनिवृत्त्या निर्दुष्टता भवेत् इति अर्थः। तदुक्त'मुच्छिष्टभोजिन' इति। एतेन ब्रह्मणः पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वाद्देहप्राणेन्द्रियादिषु तद्रूपत्वे सम्पन्ने पुनः सर्वदा तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमावेशस्तिष्ठेत् इति उक्तं भवति। किञ्च, ब्रह्मणि यथा विरुद्धधर्मेष्वपि दृश्यमानेषु निर्विकारत्वम् तथा तादृशेषु लोकसङ्ग्रहार्थं लौकिकवैदिकधर्मादिष्वपि सत्सु निर्विकारत्वमेव, न तु किमपि सविकारत्वम् इत्यपि ज्ञापितम्। पुनस्ते धर्मा दोषरूपत्वेन गणनीया न भवन्ति, कपटरूपत्वात्।।७ १/२।।

इममेवार्थं दृष्टान्तेन प्रकटीकुर्वन्त उपसंहरन्ति गङ्गात्वम् इति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ १/२।।

यथा क्षुद्रनदीनां जलेषु बहवो दोषाः सन्ति, तेषां गङ्गासम्बन्धे सति तत्तन्नदीनाम्नामपि लुप्तत्वाद्गङ्गात्वमेव भवति, गङ्गात्वे सम्पन्ने तत्तगुणदोषादिवर्णनापि निरूपयितुं

१ तदुपयुक्तेति पाठः।

योग्या न भवति, तज्जलानां गङ्गासम्बन्धाने स्वयमेव नष्टा इति अभावादेवानिरूप्यत्वमुक्तम्, तद्वत्तथात्रापि ब्रह्मसम्बन्धानन्तरमेवंप्रकारकस्थितौ ब्रह्मतायां सम्पन्नायां ते दोषाः प्राकृतांशोद्भूताः स्वयमेव लुप्ता भवन्ति इति तेषामप्यनिरूप्यत्वमुक्तम्। तादृशानां लोकसङ्ग्रहार्थं दृश्यमानानामपि केषाञ्चित्प्राकृतरीतिधर्माणां[१] कपटरूपत्वाद्दग्धपटन्यायेनानिरूपप्यत्वमेवेति सर्वमनवद्यम्। एवं जीवस्य तिरोहितानन्दस्य साधनसहितं पुनर्ब्रह्मसम्पत्तिपूर्वकं साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपफलयोग्यता निरूपिता।।८ [१/२]।।

ईश्वरवचननिरुक्तिः कर्तुं केनेह शक्यास्ति।
यदियं तदर्थरीतिः स्फुरिता मे तत्कृपैव तस्यैषा।।१।।
मद्बाल्ये नो देया दृष्टिः किन्तु स्वकीयत्वे।
मम तु तयैव भविष्यति मार्गस्थितिरन्यथा हि नो भविता।।२।।
इति निश्चयेपि शरणं प्रभो भवच्चरणपङ्कजान्येव।
सततं मम तेनैव त्वत्करुणाशापि भाविनी फलिता।।३।।

इति श्रीव्रजोत्सवकृतसिद्धान्तरहस्यविवृत्तिः सम्पूर्णा।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीगोकुलोत्सवकृतविवृतिसमेतम्।

पिबत श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजयोर्मधु।
यद्धयानाद्धान्तमाधूय मेधा मेधार्थमादधे।।

अथ साक्षाद्भगवान् 'स ऐक्षते'त्यादिश्रुत्या क्रीडार्थं नानास्वभावं जगदुत्पाद्य, तत्र साक्षात्स्वसेवोपयोगित्वेन प्रकटितानां वक्ष्यमाणप्रबलदोषविस्मृतस्वधर्माणां दैवजीवानां तत्रापि पुष्टिमार्गीयाणां उत्तरदलानुभवार्थमेव पृथक्कृतानां तत्र संसर्गवशादुपचीयमानं बाहिर्मुख्यं अवलोक्य तदुद्दिधीर्षया स्वसेवायामङ्गीकारार्थं स्वाज्ञयैव प्रादुर्भूतानां श्रीमदाचार्यणां ''शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः। भगवत्सेवने योग्या नान्य'' इति वाक्यात्तन्निष्ठदोषाभावस्य ब्रह्मविद्यासम्पत्तेश्च तत्राधिकारसम्पादकत्वात्। प्रतिपादकानां तत्तच्छास्त्रोक्तानां मन्त्रादीनां ''कलौ दशसहस्राणी''त्यादिवाक्यात्तिरोहितदेवतावत्त्वादनधिष्ठितानां तदसाधकत्वाकथमेतेषां दोषनिवृत्तिः, कथञ्च ब्रह्मविद्यानैपुण्यम्, कथञ्च भगवत्सेवोपदेशः कर्तव्य इति

१ कर्मणामिति पाठः।

विचारपरतां मत्वा स्वयं पुष्टिमार्गव्यवस्थां सकलमार्गेभ्यो भिन्नामेव ज्ञापयंस्तेषां फलदानविलम्बासहिष्णुः स्वसिद्धान्तरहस्यं यदाज्ञापयत्, तदेव कदा कस्मिन्काले केन प्रकारेणाज्ञेति प्रकाशयन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः स्वकीयशिक्षार्थं प्रत्यक्षरविचारेण निरूपयितुं प्रतिजानते।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

श्रावणस्येति। श्रावणस्य विष्णुदैवतत्वात्तदुपलक्षितमासस्यापि तथात्वमेव। अत एवास्योपनयनादौ निषिद्धत्वेपि वैष्णवदीक्षायां प्राशस्त्यं श्रूयते। ''श्रावणे सुखसम्पत्ति''रिति। तेन यथैतन्मासस्य दैवतं विष्णुः तथा देवानां तत्रापि पुष्टिमार्गीयाणां प्रभुः साक्षाद्भगवानेवेति तेषां भगवदधीनत्वमेव, नतु कालद्यधीनत्वमितरमार्गीयाणामिव। अतोहमेवैतेषां दोषनिवर्तको, न साधनान्तरापेक्षेति सूचितम्। ननु मास्तु साधनान्तरापेक्षा, भगवतैव दोषनिवृत्तौ सत्यां अङ्गीकर्तव्या इति चेत्, तत्र आहुः अमले पक्ष इति। यद्यप्यमलत्वं पूर्णिमायामेव सर्वथा तमोनिवृत्तिः, तथापि अमोत्तरं चन्द्रकलासम्बन्धमात्रेण पक्षस्यामलत्वं न प्रमाणविरुद्धम्, क्रमशश्चन्द्रकलाविर्भावे तमोनिवृत्तिः प्रकाशाधिक्यमाह्लादश्च सिध्यति, तथैतेषामपि सम्बन्धमात्रेण तथात्वम्। क्रमशश्च सेवया तदाविर्भावे जातेऽनिष्ठनिवृतिर्ज्ञानवैशिष्ट्यं भजनानन्दानुभवश्च सेत्स्यति इति भावनीयम्। तत्क्रमसूचनार्थम् आहुः एकादश्याम् इति। सा ह्येकादशेन्द्रियशोधिका भगवदेकदैवत्या च। तथा सा यथा सर्वेन्द्रियदोषनिवृत्तिपूर्वकं तत्र-तत्र भगवदावेशं सम्पादयति तथा वक्ष्यमाणब्रह्मसम्बन्धानन्तरं सेवायां प्रवृत्तस्य तत्तदिन्द्रियैर्भगवदीयं तत्तत्कार्यं कुर्वतो यत्र-यत्र यथा-यथा भगवदावेशः, तथा-तथा तत्तद्दोषनिवृत्तिरिति सूच्यते। अनन्तरञ्च यथैकादश्यामेकादशेन्दुकलावि र्भावेन तमसि निवृत्तप्राये दिनत्रायानन्तरं पूर्णिमायां पूर्णेन्दुसम्बन्धः तथा सेवायां प्रवृत्तस्यापि पूर्वोक्तक्रमेणैकादशेन्द्रियेष्वपि सर्वदोषनिवृत्त्या भगवदाविर्भावे सिद्धेऽवशिष्टत्रिगुणात्मकदेह सम्बन्धमात्रप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तौ पूर्णानन्दसम्बन्दः सूच्यते। तथा चोक्तं श्रीभागवते ''यथा यथात्मा परिमृज्यते असौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः। तथा-तथा पश्यति तत्त्वसूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रविष्टम्'' इति। भाष्ये च 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'' इति। श्रुतिश्च ''आत्मा वारे द्रष्टव्य'' इत्यादि। ननु तथापि कालस्यासुरत्वात्कथं तत्सम्बन्धमात्रेण दोषनिवृत्तिरिति चेत् तत्र आहुः महानिशि इति। सा हि आसुरीवेला। असुराणामतिप्राबल्य एव हि भगवान्भक्तरक्षार्थमाविर्भवति। अक्लिष्टकर्मत्वाद्भगवतः। पूर्वमपि तथैवाविर्भावात्। एवं सति यथा पूर्वमाविर्भूय क्रमेणासुरा हताः तथा क्रमेण दोषनिवृत्तिं विधास्यामि इति भावः। तथापि आविर्भाववैजात्यात् कथं पूर्ववत्कृतिसम्भवः, तत्र आहुः साक्षात् इति। नन्वस्तु साक्षादाविर्भावः, अंशादिना तथात्वेपि कथं पूर्वसाजात्यम्, तत्र आहुः भगवतेति। षड्गुणपूर्णेन साक्षादाविर्भूय पूर्वोक्ततत्तदभिप्रायज्ञापनपूर्वकम्, अत एव यदुक्तं त्प्रत्यक्षरविचारेण मयोच्यते।।१।।

एवं प्रतिज्ञाय तद्विषयं निरूपयन्ति **ब्रह्मसम्बन्धकरणात्** इति।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः मताः।।२।।

दोषनिवृत्त्युपायालाभेन हि चिन्ता सा तु न कर्तव्या, कुतः हि यस्माद्देहजीवयोरुभयोः सम्बन्धिनां सर्वेषां ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य सम्बन्धिकरणात्सर्वस्वसमर्पणेन तदीयत्वसम्पादनात्सर्वदोषनिवृत्तिर्भविष्यति इति शेषः। तथा च प्रथमं शरणं प्रविश्य सर्वसमर्पणं करणीयम्, अनन्तरं सेवाङ्गीकर्तव्या इति सूचितम्। तथा सति सेवाभ्यासेन समर्पणानुसन्धानेन च क्रमशः सर्वत्र स्वाध्यासनिवृत्त्या भगवत्सम्बन्धस्फुरणेन च सर्वदोषनिवृत्तिर्भविष्यति इति भावः। कथमध्यासनिवृत्तिः, किम्प्रकारकं च तत्र-तत्र भगवत्सम्बन्धभानम्, एतज्ज्ञापनाय दोषान् गणयन्ति दोषाः **पञ्चविधा मता** इति। मताः सर्वशास्त्रेषु इति अर्थः। अग्रे च पञ्चविधत्वे प्रमाणमेव **लोकवेदनिरूपिता** इति कथयन्ति। दोषा हि अविद्याजन्याः। सा च पञ्चपर्वात्मिका तत्सङ्ख्याका एवोक्ताः। यद्यपि ते बहवः परन्तु तेष्वेवान्त र्भूता इति। अत एवाग्रे प्रत्येकं बहुवचनम् उच्यते।।२।।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन।।३।।

तथा हि सहजा इति। नात्र क्रमो विवक्षितः। सहजा इति प्राणाध्यासजा उक्ताः। जातमात्रस्यैव प्राणपोषणप्रवृत्तेः प्राणाध्यासस्य सहजत्वम्। **देशोत्था** इति देहाध्यासजाः। तद्वतामेव तत्तद्देशगमने दोषसम्भवात्। कालोत्था इति स्वरूपविस्मृतिजन्याः। **कालेनैव** तत्सम्भवात्। **संयोगजा** इति अन्तःकरणाध्यासजन्याः, तत्रैवेतरसंयोगे भगवद्बाहिर्मुख्यस्वधर्म भगवद्धर्माज्ञानसम्भवात्। **स्पर्शजा** इति मात्रस्पर्शजन्याः। तथा चेन्द्रियाध्यासजा उक्ताः। ते **ब्रह्म**सम्बन्धेन निवर्तिष्यन्त इति अङ्गीकारे प्रतिबन्धकत्वेन न मन्तव्याः कथञ्चनापि। तत्प्रकाश्च एकादश्यादिपदसमभिव्यवहारात्तात्पर्यनिरूपणेनोक्तः। अत एव ब्रह्मसम्बन्धकरणे पूर्वं स्वरूपस्मृतिस्ततो देहादीनां तद्धर्माणां तत्सम्बन्धिनां च भगवति तत्समर्पणेन तदीत्वेन स्थितिरेव सम्पाद्यते। निर्दुष्टपदार्थसम्बन्धे निर्दोषताभिप्रायेण। लोकवेदनिरूपिता इति सर्वत्र प्रमाणकथनम्।।३।।

यद्येवं प्रमेयबलमाश्रित्य दोषनिवृत्तिर्नाङ्गीकारः, तदा कालत्रयेपि न दोषनिवृत्तिरिति आहुः **अन्य**थेति।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।

अन्येथेति प्रमाणबलेन। अन्यत्स्पष्टम्। एवं भगवत्सम्बन्धिनामेव निर्दुष्टत्वम्, तद्व्यतिरिक्तानां तु सदोषत्वमेवेति निरूपितम्। अतो ब्रह्मसम्बन्धानन्तरं पुनस्तदतिरिक्तसंसर्गे

कुञ्चरशौचमिव सर्वं भवति इति तदनन्तरं तत् निषेधम् आहुः असमर्पितेति। यतो ह्यसमर्पितानां न दोषनिवृत्तिर्ब्रह्मसम्बन्धाभावात्तस्माद्धेतोस्तेषां तत्सम्बन्धिपदार्थानां वर्जनमाचरेत्, संसर्गं न कुर्यात् इति अर्थः। नन्वत्र सर्वथा भगवदीयत्वसम्बन्धपदार्थातिरिक्तसंसर्गो निवार्यते। आत्मना सहैव समर्पितानामपि दारादीनां आनुकूल्ये न संसर्गदोषः, प्रातिकूल्ये तु "गृहं त्यजेत्" इत्यपि निरूपितं निबन्धे।

तथा सति लौकिकेअपत्यसम्बन्धादौ वैदिके अकरणप्रत्यवा यजनकवर्णाश्रमविहितयाग ऋत्विग्वरणदानप्रतिग्रहादिषु असमर्पितात्मनां प्रत्युत गृहाद्यासक्तानां शुष्ककर्मजडानां संसर्गे का गतिरिति चेत् तत्र आहुः।

निवेदिभिः समप्यैंव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।।५।।

निवेदिभिरिति। निवेदिभिरिति सहार्थे तृतीया। समप्यैंवेत्येवकारो अन्ययोगव्यवच्छेदकः। तथा सत्ति समप्यैंव करणात् सर्वस्वं समप्यैंव समर्पणानन्तरमेव तदुत्तरक्षरस्यासुरत्वात्तत्प्रवेशव्यतिरेकेणैव तत्क्षणमारभ्यैव निवेदिभिः समर्पितसर्वस्वैर्भगवदीयैः सह सर्वलौकिकमपत्यसम्बन्धादिकं वैदिकं यागादि कुर्यात्, न तु तादृशकर्मजडैरित्यर्थः। एतेन समर्पणोत्तरक्षणस्यासुरत्वात्तत्प्रवेशात्प्रागारभ्यैव नित्यं भगवदीयं सङ्गमेव कुर्यात्। अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः। स्यात् इति सूचितम्। एतदेव नवरत्नविवरणे स्फुटीकृतं प्रभुचरणैः। "निवेदनं तु स्मर्तव्यम्" इति अत्र। अत एव श्रमीदाचार्यवंश्यानां नान्यमार्गीयप्रतिग्रहाङ्गीकारः। एतेन समर्पणक्षणमारभ्य भगवदीयैरेवापत्यसम्बन्धः, तादृशानामेव यागादौ वरणं दानप्रतिग्रहौ चेति भगवदीयधर्म इति निरूपितम्। किञ्च। भगवदिच्छां विना भक्तस्य न किञ्चित्कर्मकरणम् इति नवरत्ने भक्तिहंसे च निरूपितम् इति अनायासतादृशसामग्रीसम्पत्तिरेव भगवदिच्छासूचिकेति तावत्तथैव साक्षिवत्पश्यतो न कोपि दोषप्रसङ्गावसरगन्धोपि इति भावः। तदुक्तं "साक्षिणो भवताखिला" इति नवरत्ने। इदमपि कर्माग्राहित्वानुरोधात् उक्तम्। वस्तुतस्त्वस्मिन्मार्गे इतरसम्मेलननिषेधात्सा शङ्कैव नेत्यलम्। कुर्यात् इति अत्र तु कर्तृपदं स्पष्टम्। एतद्ग्रन्थस्य शरणागतं प्रति शिक्षारूपत्वेन शिष्यस्य जागरूकत्वात्। इयं निवेदिनो मर्यादास्ति इति आहुः स्थितिरिति। ननु भगवदीयस्य सर्वथान्यसंसर्गनिषेधाद्वर्णाश्रमविषयककार्यमानेषु च तादृशानामतिदुर्लभत्वात्तथाग्रहस्य च भगवति महाभारप्रदत्वेनास्व धर्मत्वातत्तत्कार्यमात्राणां चावश्यकत्वात्तत्तन्निर्वाहार्थमस्तु स्वमात्रसमर्पणम्, किं दारादीनां साहित्येनेति चेत्, तत्र आहुः। न मतम् इति। सामिसमर्पणं भुक्तसमर्पणं च देवदेवस्य न मतम्। सामिसमर्पणतुल्यत्वज्ञापनाय समस्तं पदम्। एतेन साभिभुक्तदोषपरिहारार्थमेव स्वसमर्पणे दारादीनां साहित्यम्। तेषां साक्षात्सेवाधिकारस्तु पृथक्समर्पणेनैव भविष्यति इति सूचितम्। एतदेवोक्तं नवरत्नविवरणे। "कस्यचिद्विशेषोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टि"रिति। पुष्टिर्नाम च साक्षत्सेवाधिकाररूपो अनुग्रहः।

एवं सति सर्वं समर्प्य कार्यमात्रे भगवदिच्छैव नियामिकेति निश्चित्य नान्यसंसर्गं कुर्यात् इति वाक्यादेतद्द्वारस्य प्रभुणैवाङ्गीकृतत्वादेतदपेक्षया सामिभुक्तसमर्पणस्य जघन्यतरप्रतीतेश्च। ननु भुक्तसमर्पणनिषेधे पूर्वं दारादिभिरुपभुक्तस्य देहादेरपि समर्पणमनुपपन्नम् इति चेत्। न। आकस्मिकनिजदोषस्फूर्त्या पश्चात्तापपर्याकुलस्यापराधप्रतीकारमपश्यतः शरणान्तरमलभमानस्य समस्तसाधनपरित्यागपूर्वकं महापुरुषद्वारा भगवदेकशरण्यं प्रविष्टस्य भगवदिच्छया च महापुरुषेण करुणया तदेकशरणं प्रवेश्य कृतात्मनिवेदिनो दीनवत्सलेन भगवता स्वभक्तपक्षपातेन कृपयाङ्गीकृतस्य ब्रह्मसम्बन्धमात्रेण वस्तुस्वभावान्निर्दग्धनिखिलकल्मषस्य वह्निसम्बन्धेन सुवर्णस्येव निर्दुष्टत्वात्। तथा चोक्तं गीतायां ''सर्वधर्मान्परित्यज्ये''ति। श्रीभागवतेपि ''स्वयं समुत्तीर्ये''ति। न चैवं जडत्वसामान्यात्करुणास्पदत्वादिधर्मासम्भवाद्देहादेरपि कथमङ्गीकार इति वाच्यम्। चेतनाध्यस्तत्वात्तस्य। अत एव शवशरीरस्य शरणागमनं न वा करुणास्पदत्वादि सम्भवति। किञ्च। जीवोद्धारार्थं हि कृपया श्रीमदाचार्येभ्य एतन्मार्गमादिष्टवान् भगवान्। तथा च जीवस्य यत्र-यत्र स्वाध्यासेन सङ्ग्राह्यत्वबुद्धिः, तत्र-तत्र प्रभुसमर्पणे कृते स्वसम्बन्धसम्पादनेन तदध्यासनिवृत्तिं विधाय तमुद्धरपि। भुक्तशेषे तु जीवस्यैव हेयत्वबुद्धेः कुतस्तदा देवदेवसमर्पणावकाशः। निषेधवाक्यं तु प्रमादतस्तथाकरणे अवधानप्रतिपादकं सामिसमर्पणस्य च तत्तुल्यताप्रतिपादकम् इति ध्येयम्। अपरञ्च। साधनदशायां हि दासधर्मस्वरूपनिरूपणमेतत्। वस्तुतस्तु केवलं पुष्टिमार्गे भावाधीनो भगवान्, यथा भावे तदप्यङ्गीकरोति। यथा वनभोजनलीलायां ''सर्वे मिथो दर्शयन्त'' इति। यथा वा फलप्रकरणे ''स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धव'' इति अत्र ''तत्रोपविष्टो भगवान्'' इति अत्रः श्रीमदाचार्यैः प्रपञ्चितम् इति सर्वमनवद्यम्। एतेन सामिसमर्पणस्य बलवद्दोषवत्त्वं निरूपितम्। अनन्यत्वभङ्गप्रसङ्गेन भगवदनङ्गीकारेण तथाभावप्रतिबन्धकत्वात्। अत एवाभ्यर्हितत्वेन पूर्वनिपातः। तथा चात्मना सह स्वसम्बन्धिसर्वमेव समर्पणीयम्, न त्वात्ममात्रम्। ततश्च भगवदीयैरेव सर्वव्यवहारकत्वम् न त्वन्यैरिति सिद्धम्। एवमेव ह्यग्रेपि यावज्जीवं भगवदप्राप्तेषु तत्त्वलौकिकवैदिकनिमित्तेष्वपि निर्मितानां पदार्थानां ''उच्छिष्टभोजिनो दासा'' इति दासधर्मत्वाद्भगवते समर्पणं विधाय पश्चात्तदुपयोगं कुर्यात् इति अर्थः।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।६।।
न ग्राह्यमितिवाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

तस्मात् इति। अयं भावः। सामिसमर्पणानङ्गीकारादात्मना सह सर्वस्वं भगवते समर्पितमनन्तरं च तत्तत्कार्ये प्राप्ते तत्तद्द्रव्यादिना तत्तत्सामग्रीं सम्पाद्यादौ भगवत एव समर्पयेत्। तद्द्रव्यनिर्मितपदार्थानां तद्भोग्यत्वात्। ततश्च तत्र विनियोगे जाते तद्दत्तमहाप्रसादत्वेन

तदुपभुक्तवा**सोलङ्कारादिभिर्भगव**दिच्छाप्राप्तत्वात्तत्तत्कार्यं विधेयम्। न तु स्वातन्त्र्येणानर्पयित्वेति हृदयम्। तथा साक्षादलौकिकरसात्मकत्वेन प्रभूपभुक्तत्वेन तद्दत्तमहाप्रसादत्वेनैव तत्पदार्थैस्तावन्मात्रका सेवोपयोगित्वाद्देहादिवृत्तिरपि कर्तव्या। न तु भोगत्वेन। ''उच्छिष्टभोजिनो दासा'' इति दासधर्मत्वात्। अन्यथा मार्गस्थितेरुच्छेदादन्यमार्गप्रवेशात्तत्र च भगवन्नैवेद्यग्रहणे दोषश्रवणाद्दोषभाग्भवति इति आहुः दत्तेति। इदं वचनं भिन्नमार्गपरं सम्मतम्। दत्तं पुनः स्वोपभोगाय न ग्राह्यम् तथा हरेः सम्बन्धि किमपि न ग्राह्यम् इति यद्वाक्यं तद्भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गपरम् इति अर्थः। भगवति निवेदनाभावान्निवेदितपदार्थानां भगवदुपभोगे जाते महाप्रसादस्यात्मशोधकत्वेनावश्यं ग्राह्यत्वप्रतिपादनाच्च।

उपसंहरन्ति **सेवकानाम्** इति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति।।७।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।
गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।।८।।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।९।।

समर्प्यैव समर्पणोत्तरक्षणमारभ्य सेवकानां दासानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्धो वर्तते, तथैव व्यवहारो विधेयः। स च स्वकायदेहादिपर्यन्तपदार्थेषु स्वाम्यधीनत्वभावनया तस्मिन्नेव यथासम्भवं सर्वं विनियुज्य उच्छिष्टमात्रं भुञ्जतः सेवापरतया स्थितिः। एवं सेवतो लोकेपि दासस्य देहावसाने उत्तमत्वं सिध्यति। नारदस्येव। तथा ब्रह्मसम्बन्धकरणमारभ्य भगवति सर्वं विनियुज्य सेवतो देहादिषु भगवदीयत्वभावनया सर्वत्र भगवदावेशाद्ब्रह्मता सिध्यति। ततश्च गङ्गात्वम् इति। यथा गङ्गायां निविष्टानां जलानां गङ्गात्वमेव, न तु तद्गतकरतोयादिविलम्बनादिपूर्वदोषनिरूपणमपि। तद्वदस्यापि। यद्यपि कामादयो दोषरूपाः, तथापि भगवदीयस्य भगवत्येव कामः, तत्प्रतिपक्षेषु क्रोधः, एवं यथायथं भगवत्सम्बन्धे ब्रह्मतैव सेत्स्यति इति व्यर्थैव दोषनिवृत्तिप्रतीक्षेति हृदयम्।

श्रीमदाचार्यपादाब्जमधुमाध्वीवशादहम्।
प्रालपं साधुभिर्भाव्यं विशोध्यं साध्वसाधु वा।।१।।
इति श्रीसिद्धान्तरहस्यविवृत्तिः समाप्ता।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीहरिरायोदिता सिद्धान्तरहस्यविवृतिः।

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाविष्टचेतसा। कारिकाभिः स्वसिद्धान्तरहस्यार्थो विविच्यते।।१।।
स्वरूपेण समुद्धारस्तथा भक्त्यापि चैव हि। व्यवस्था तत्र मन्तव्यावतारानवतारतः।।२।।
अवतारे त्रिधा रूपमवतीर्णं तथा रसः। पूर्वस्तथा मूलरूपं तत्पारोक्ष्यं हि सर्वथा।।३।।

वैकुण्ठागमनान्नित्यमवस्थानस्थितेरपि[1]। लीलाविशिष्टरूपेण हृदयैकप्रवेशत:।।४।।
इदानीन्तनजीवानामुद्धृतिस्तु कथं भवेत्। विचार्य कृपया कृष्णो भक्त्याविष्करणोद्यत:।।५।।
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदै: सा[2] त्रिविधा मता। मध्या श्रुतिपुराणेषु सर्वत्र विनिरूपिता।।६।।
द्वयोर्निरूपणार्थं हि श्रीभागवतसम्भव:। व्यासावतारोपि हरेरेतदर्थक एव हि।।७।।
तत्र मार्यादिकी भक्ति: श्रीभागवतमार्गत:। तदुक्तसाधनैरेव सिद्धा भवति सर्वथा।।८।।
पुष्टिस्त्वनुग्रहात्मा हि साधनैर्न भवेदिति। ज्ञापयित्वा भागवते दानाय जगतीतले।।९।।
भक्तिभावात्मकं स्वास्यं स्वयमाविश्वकार हि। तत्सम्बन्धेन सर्वेषां मूर्तिमद्भक्तियोगत:।।१०।।
भविता भावसम्बन्दस्तत: पुष्टि:फलिष्यति। विना द्वारं हि जीवानां तत्सम्बन्धोपि दुर्लभ:।।११।।
स्वरूपाज्ञानत: पूर्वं तदर्थं भगवान्हरि:। मार्गं प्रकाशयन्नाविर्भूत: कालेपि तादृशे।।१२।।
फलमाचार्यसम्बन्धात्तत्सम्बन्धो हि मार्गत:। अदेयदानदक्षश्चेत्यतो नाम विराजते।।१३।।
मार्गेत्र प्रथमं पुष्टि: सम्बन्धवरणात्मिका। मध्ये वेदोक्तमर्यादायुतभक्तिस्थितौ स्थिति:।।१४।।
अपाषण्डित्वसिद्ध्यर्थं भगवत्तोषणाय च। फलपुष्टेर्योग्यतायै फलं कृष्णेन नान्यथा।।१५।।
नि:साधनत्वभङ्ग: स्याद्यदि स्यात्साधनै:फलम्। एतादृड्मार्गबोधाय प्राकट्ये तादृशो मत:।।१६।।
कालो हरे: कृपापूर्णनि:साधनफलात्मन:। श्रावण: पुष्टिमार्गीयश्चातुर्मास्यगतत्वत:।।१७।।
विष्णुसम्बन्धिसम्बन्धात्सम्बन्धख्यापको मत:। बोध्यते तेन पुष्टिर्हि प्रथमं वरणात्मिका।।१८।।
मर्यादाबोधनार्थाय पक्ष: प्रोक्तोऽमलस्तथा। भक्तिमार्गीयमर्यादाबोधिकैकादशी मता।।१९।।
प्राकट्यकाल: पूर्णस्य हरे: प्रोक्ता महानिशा। नि:साधनजनोद्धृत्यै फलदानाय भूतले।।२०।।
फलसामयिकी पुष्टिस्तेनात्र विनिरूपिता। एवंविधे हरि: काले प्रादुर्भूय निजेच्छया।।२१।।
ब्रह्मसम्बन्धमारभ्य सर्वं मार्गं स्वयं जगौ। न भक्तैर्नावतारेण न स्वप्नप्रेरकेण च।।२२।।
न पूर्वरसरूपेण मूलरूपेण वै हरि:। उक्तवानिति बोधाय साक्षात्पदमिहोदितम्।।२३।।
सर्वलीलाविशिष्टत्वबोधाय भगवत्पदम्। साभिप्रायत्वबोधाय कथने प्रपदं मतम्।।२४।।
यदुक्तं हरिणा तद्धि प्रत्यक्षरमिहोच्यते। ब्रह्मसम्बन्धकरणादित्यादि भगवद्वच:।।२५।।
आदौ सम्बन्धकरणं कन्ययेव स्वयम्वरे। स्वस्य सर्वपदार्थानां मनसा तेन योजनम्।।२६।।
सम्बन्धवत्या दूत्येव गुरुणा तत्कृतिर्भवेत्। सम्बन्धश्चापि निर्दोषस्तथा सर्वसम: स्मृत:।।२७।।
वह्नेरिवेति बोधाय प्रोक्तं ब्रह्मपदं पुन:। ''निर्दोषं हि समं ब्रह्मे''त्यत्रोक्तं तत्तथाविधम्।।२८।।
स्यात्प्रयुक्ते कृष्णपदे विषमत्वं[3] गुणाहित:। सम्बन्धे तादृशापेक्षा नास्ति दोषनिवारणात्।।२९।।
दोषमात्रनिवृत्त्यर्थं ब्रह्मसम्बन्ध उच्यते। गुणाधायकसम्बन्ध: फलसामयिको मत:।।३०।।
तस्मिन्वाच्ये कृष्णपदं वाच्यं कृष्ण:फलात्मक:। तत्सम्बन्धे स्वत:सिद्धे फलसंसिद्धिसम्भवात्।।३१।।
अपरा कृष्णसेवादिकृतिर्वैयर्थ्यमाप्नुयात्। अत: साधनसम्बन्धो विवाह इव लौकिके।।३२।।
तेन निर्दुष्टतासिद्धिर्विधिनेव रतौ पुन:। ईदृक्सम्बन्धबोधाय प्रोक्तं ब्रह्मपदं पुरा।।३३।।
विषमश्च हरि: कृष्णो न यायात्समतां यत:। हेतुसम्बन्धसम्बन्धात्कृष्ण:[4] साधनतां गत:।।३४।।

१ नित्यलीलास्थानेति पाठ:। २ सापि त्रिधेति पाठ;। ३ विषयत्वम्। ४ हेतोरक्षरस्य सम्बन्धो यस्य कृष्णस्य तस्य सम्बन्धात्।

ब्रह्मेति प्रोच्यते सर्वसमत्वाद्दोषनिर्हृते:। व्यापकत्वं च सम्बन्धे तेनैव विनिरूपितम्।।३५।।
करणोक्त्या न मुख्योत्र[1] भावित्वान्मानसी कृति:। युक्त: प्रथमसम्बन्धो भावात्मा भावरूपिणा।।३६।।
अग्रिमोपि तथाभूत:[2] सर्वथा नात्र संशय:। विशेष: परमेतावान् प्रथमो मानसो मत:।।३७।।
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्त:करणैरात्मनापि हि। साक्षात्स्वरूपसम्बन्धो[3] द्वितीय इति निश्चय:।।३८।।
परं तत्रेन्द्रियादीनां कृत्यादीनां च सर्वथा। भावात्मकत्वं मन्तव्यं तादृग्रूपानुभूतित:।।३९।।
अप्राकृतत्वं चैतद्धि बोध्यं स्यादिन्द्रियात्मनाम्। मानसे पूर्वसम्बन्धे या कृतिस्तनुवित्तजा।।४०।।
सा हि साधनतां प्राप्ता प्राकृतेन्द्रियदेहजा। तथोक्तमस्मदाचार्यैस्तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।।४१।।
एतादृशस्य योगस्य सकृत्करणमात्रत:। अयोग्यानां च योग्यानां सर्वेषामधिकारिणाम्।।४२।।
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां ब्राह्मणादेरपि स्वत:। ज्ञानाज्ञानविभेदेन हीनमध्याधिकारिणाम्।।४३।।
श्रीकृष्णसात्कृतासूनामुत्तमाधिकृतावपि। भवति ब्रह्मसम्बन्ध: समत्वात्सकलान्प्रति।।४४।।
पुरुषोत्तमरूपत्वान्न चिन्ता तदनुग्रहे। न वा समागतां कन्यां त्यजेत्पुरुषकेसरी।।४५।।
न च सामर्थ्यसहित: कुर्यात्काञ्चिद्विचारणाम्। बलादङ्गीकृतिकृतिर्न गृह्णीयात्समर्पितम्।।४६।।
अतो न चिन्तालेशोपि विधेय: स्वीकृतौ हरे:। एतदेवास्मदाचार्यैर्नवरत्ने निरूपितम्।।४७।।
तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे। अयमेवात्र संस्कारो मन्तव्य: कृष्णसेवने।।४८।।
उपदेशस्तु सावित्र्या यथा वैदिककर्मणि। तापक्लेशगुणाधानं शुद्धिवच्च समर्पणात्।।४९।।
यथा हि संस्कृत: शुद्ध: कर्ममार्गेभिधीयते। भक्तिमार्गे तथा तापक्लेशै: शुद्धो निरूप्यते।।५०।।
शुद्धो यत्कुरुते कर्म तत्सर्वं सफलं यथा। तथात्र तापक्लेशार्तकृता सेवापि मानसी।।५१।।
संस्कारत्वे तु सम्बन्धो देहमात्रं विशोधयेत्। गायत्रीवन्न वै जीवमित्याशङ्क्यात्र चोदितम्।।५२।।
सर्वशोधकतासिद्ध्यै पदं यद्देहजीवयो:। जीवशुद्धिरविद्यात: संसाराद्विस्मृतेर्हरे:।।५३।।
अशुद्धिस्तदभावात्मा ब्रह्मसम्बन्धतस्तु सा। भवति ब्रह्मसम्बन्धे ह्यहन्तामममतागति:।।५४।।
तापक्लेशे च भगवत्स्मृति: सार्वदिकी मता। अत: शुद्धो हि योग्यस्तु भगद्भजने मत:।।५५।।
निवृत्तिरत्र दोषाणामेकदैव विवक्षिता। अत: सर्वपदं प्रोक्तं दोषाणां विनिवर्तने।।५६।।
दोषत्वेनैव दोषाणां सङ्ग्रहस्तु निरूपित:। न प्रत्येकमपारत्वात्ते शक्यन्त उदीरितुम्।।५७।।
बुद्धिसौकर्य्यसिद्ध्यर्थं तत्पञ्चविधतोदिता। दुष्यन्ति यैस्तु देहाद्या जीवा: कृष्णोपयोगत:।।५८।।
निवर्तन्ते सर्वथैव ते दोषा: परिकीर्तिता:। निवृत्तिस्तु द्विधा दूरीकृते: शुद्धिकृतेरपि।।५९।।
आद्या तु वस्त्रमालिन्यनिवृत्तिरिव शोधकै:। द्वितीया मृण्मयस्येव पाकेनेव च शुद्धता।।६०।।
सदोषाङ्गिकृतेस्तस्यास्तद्गतौ व्यर्थता भवेत्। अतोत्र विनिवृत्तिस्तु द्वितीयैव हि युज्यते।।६१।।
एतदेव हि गङ्गात्वमित्यत्राग्रे निरूपितम्। हिशब्द: सर्वदोषाणां निवृत्तौ युक्तिबोधक:।।६२।।
कोटिसूर्याग्निरूपस्य सम्बन्धाद्दोषवारणे। निश्चयार्थोपि बोद्धव्य: सत्यसङ्कल्पवाक्यत:।।६३।।
अविद्यारूपतस्तेषां सङ्ख्या चोक्ता तथाविधा। स्मृता इति पदोक्तौ च प्रसिद्धिरपि बोधिता।।६४।।
सर्वश्रुतिपुराणेषु लोके वेदेपि चैव हि। तेषु पञ्चविधत्वोक्त्या तत्रैवान्यनिवेशनम्।।६५।।
देहेन सह जायन्ते जीवेनापि तथा पुन:। ते हि शूद्रत्वसंसारित्वादय: सहजा मता:।।६६।।

१ सम्बन्ध:। २ न मुक्त:। ३ प्रतिमासम्बन्ध:।

नन्वासुरत्वं सहजं कथं न हि निवर्तते। ब्रह्मसम्बन्धः सर्वदोषदाहकतोपि हि।।६७।।
इति चेत्सत्यमेवास्ति परं सम्बन्धसम्भवः। दुर्लभस्तेषु तद्दोषाद्भक्तिमार्गाप्रवेशतः।।६८।।
यथा कथञ्चित्सम्बन्धे तन्निवृत्तिरपीष्यते। अत एवावतारे तु सम्बन्धात्तत्कृतार्थता।।६९।।
परं रूपेण करणं न भक्त्येति विनिश्चयः। इदानीं भक्तिमात्रेण ह्युद्धारो भगवन्मतः।।७०।।
तदा क्रोधादिभावेपि नेदानीं तद्धि साधनम्। भक्तिसाधनसत्त्वेन तेषां भक्तिविरोधतः।।७१।।
सन्तो न कुर्युस्तत्सङ्गमिति सङ्गोपि दुर्लभः। तस्मादनवतारे तु नासुराणां फलं भवेत्।।७२।।
अङ्गवङ्गादिगमनजनिता दैशिका मताः। यथा परीक्षितः कालस्थानदानात्तथा पुनः।।७३।।
कालावेशेन ये जातास्ते दोषाःकालिकाःस्मृताः। यथा लोके राजसेवा योग्या नैव कुरूपिणः।।७४।।
चातुर्यरहिता मूर्खा दुःशीलाःस्तेयकारिणः। कुरूपित्वादयो दोषा अतस्ते लौकिकाःस्मृताः।।७५।।
वेदोक्तविध्यकरणान्निषिद्धकरणादपि। वैदिकास्ते समाख्याता आज्ञाभङ्गो यतो हरेः।।७६।।
सान्निध्यादेव दोषाणामेकोक्तिर्देशकालयोः। निषिद्धकृतिजन्यानां तेषां लोकेपि सम्भवात्।।७७।।
अपकीर्त्या लौकिकेषु साङ्कर्याद्वैदवर्तिनाम्। अतस्तथैव ग्रन्थेऽस्मिन्नेकोक्तिर्लोकवेदयोः।।७८।।
अतो लोकेषु सङ्ख्याया नाधिक्यमिह शङ्क्यताम्। सम्यग् योगो हि संयोगः कामलोभादयश्चसः।।७९।।
नैरन्तर्येण संवासशयनासनभोजनैः। म्लेच्छशूद्रादिसंयोगस्तज्जाः संयोगजाः स्मृताः।।८०।।
स्पर्शजाः स्पर्शमात्रेण प्रायश्चित्तं विधीयते। यत्र चाण्डालपतितादीनां ते तादृशा मताः।।८१।।
एवं पञ्चविधा दोषा विज्ञेया भगवत्परैः। उक्ता अनुक्ता सर्वेपि चकारेण समुच्चिताः।।८२।।
स्वानुभूतेः परप्रोक्तात्प्रतीता अपि सर्वथा। सेवायां बालकत्वेन न मन्तव्या विशेषतः।।८३।।
कथञ्चनेति पदतः सूचितोर्थो निरूपितः। तव्यप्रत्यययोगेनामननं सर्वथोच्यते।।८४।।
अन्यथा स्यादविश्वासात्समस्तं फलमन्यथा। ननु दोषनिवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्तादिकं कथम्।।८५।।
अन्यत्र विहितं चात्र तदेव न किमुच्यते। किमर्थं ब्रह्मसम्बन्ध इति चेत्तत्र चोच्यते।।८६।।
विना तु ब्रह्मसम्बन्धं प्रायश्चित्तादिभिः पुनः। युगपत्सर्वदोषाणां न निवृत्तिर्भवेदिति।।८७।।
ब्रह्मसम्बन्धकरणं सर्वदोषनिवर्तकम्। तदभावे कथं सद्यः सेवायामधिकारिता।।८८।।
अत एवाग्रिमे पद्ये प्रोक्तं सर्वपदं पुनः। अन्यथा सर्वदोषाणामित्यत्रोक्तार्थसूचकम्।।८९।।
एवं हि ब्रह्मसम्बन्धः संस्कारोत्र निरूपितः। तदुत्तरं तस्य सर्वसमर्पणमिहोच्यते।।९०।।
यस्माकृतो हि सम्बन्धो विनियोगाय सर्वथा। स्वासम्बन्धि यतःकृष्णो न गृह्णातीति निश्चयः।।९१।।
एतदेवोक्तमाचार्यैर्वेणुगीतनिरूपणे। स्वभोगान्नतरं भोग्यो भगवान्भवतीति हि।।९२।।
तत्रापि ब्रह्मसम्बन्धो वेणुना शब्दरूपिणा। ब्रह्मणा येन संसिद्धं देहादिविनियोजनम्।।९३।।
तस्मात्सम्बन्धसहितो वर्जयेदसमर्पितम्। समर्पणं तु संसिध्येत्सम्बन्धादेव सर्वथा।।९४।।
स्वसम्बन्धि यतः सर्वं गृह्णात्येवेति निश्चयः। समर्थं भक्त्युपहृतमतस्तु हरिणोदितम्।।९५।।
गीतायां भक्तिमार्गीयप्रभुणातिदयालुना। वस्तूनामिति यत्प्रोक्तं बहुत्वं तस्य चाशयः।।९६।।
सर्वांशेनैव तत्त्यागो नैकांशेनेति बुध्यताम्। यथा गायत्र्योपदेशः संस्कारोत्तरमुच्यते।।९७।।
श्रुतिस्मृत्युदिताचारस्तदभावे फलं न हि। आचरेदित्यनेनात्र ब्रह्मसम्बन्धतः परम्।।९८।।

१ दोषेषु।

समर्पणं तथाचारो ह्यसमर्पितमवर्जनम्। तदभावेऽङ्गहीना तु सेवा नैव फलेदिह।।९९।।
ननु सर्वं समर्प्यं चेद्दैदिकं लौकिकं तथा। न कुर्यात्कृष्णकार्याय सम्बन्धो विहितो यतः।।१००।।
न चान्यविनियोगोपि ह्युचितश्च निवेदिनाम्। इति चेदुच्यते सर्वं कुर्यादेव यथोदितम्।।१०१।।
मर्यादामध्यपातेन पुष्टिमार्गनिरूपणात्। निवेदो वर्तते तेषां पदार्थानां पुराकृतः।।१०२।।
तेनैव सकलं कुर्यात्समर्प्यैव हरौ परे। देहनिर्वाहवत्कृष्णप्रसादेनेति निश्चयः।।१०३।।
स्वयं कुर्यान्न विश्वासं पुत्रादीनामपि क्वचित्। एवंप्रकारिकैवैषा स्थितिः पुष्टिफलावधि।।१०४।।
मर्यादापीयमेवेह स्थित्यर्थमवगम्यताम्। नन्वेतदुचितं नैव यत्समर्पितयोजनम्।।१०५।।
लौकिके वैदिके नीचप्रेतपित्रादियोगिनि। अतोऽसमर्पितेनैव तत्कार्यमिति चेन्न हि।।१०६।।
युज्यते शेषभावाप्त्या निखिलं तज्जुगुप्सितम्। अर्धभुक्तं देवदेवोपयोगाय भवेन्न तु।।१०७।।
न चोचितं सेवकानां स्वामिन्येवंविधापर्णम्। एवं समर्पणासिद्धौ सम्बन्धो विफलो भवेत्।।१०८।।
अतो निषिद्धं कृष्णस्य सामिभुक्तसमर्पणम्। ननु कृत्वाखिलं कर्म लौकिकं वैदिकं तथा।।१०९।।
कृष्णार्पणैकबुद्ध्या वा पश्चात्कृष्णे समर्पयेत्। तदा न प्राप्यते दोषः कश्चित्तादृक्समर्पणे।।११०।।
इति चेद्देवदेवो हि यस्मात्कृष्णो न केवलः। अतः सेवकशेषो हि सामिभुक्तं हरेः स्मृतम्।।१११।।
कृष्णार्पणैकमत्या वा कृत्वा कृष्णसमर्पणम्। तत्रापि स्यादन्यशेषो मतिमात्रेण चार्पणात्।।११२।।
सर्वथा नार्पितं कृष्णे तन्न गृह्णाति केशवः। यतः सम्बन्धवैयर्थ्यमत आदौ समर्पणम्।।११३।।
तत्रापि सर्ववस्तूनां सर्वकार्ये तथैव च। लौकिके वैदिके वापि ह्युत्तमेऽनुत्तमेपि च।।११४।।
पश्चाद्विधेयं सर्वं हि तदा सार्थकता भवेत्। उच्छिष्टदाने सर्वेषां माहात्म्यं चापि सिध्यति।।११५।।
नन्वेवं लौकिकार्थं हि वैदिकार्थं तथा पुनः।समर्पितपदार्थानां ग्रहणे दोषसम्भवः।।११६।।
दत्तापहाररूपो हि धर्ममार्गनिरूपितः। भगवच्छास्त्रसिद्धोपि नैवेद्यग्रहणात्मकः।।११७।।
"अपि दीपावलोकं म" इत्यादिप्रभुणोदितः। इति चेन्न यतो मार्गो भिन्नोयं पुष्टिनामकः।।११८।।
मार्गभेदान्न दोषोत्र कर्मपूजादिरूपितः। यथाश्रमविभेदेन निषेधानां विधेरपि।।११९।।
भिन्नतात्र तथा मार्गभेदेनापि विबुध्यताम्। न वा निवेदनं दानं येन दोषो ग्रहे भवेत्।।१२०।।
वाक्यं पूजाप्रकरणात्तद्दोषविनिरूपकम्। नन्वेवं सर्ववस्तूनां समर्प्य विनियोजनम्।।१२१।।
प्राप्येत कामचारेण दोषाभावान्न रक्षणम्। तथा च प्रभुवस्तूनां वृथैव विनियोगतः।।१२२।।
अन्यत्र तेन भविता सम्बन्धदृढताकृतिः। न स्वसम्बन्धिवस्तूनां नाशनं कुरुते वृथा।।१२३।।
लोकेपि दृढसम्बन्धयुतः स्वाम्यर्थरक्षकः। अतः प्रोक्तं यथा लोके सेवकानां प्रकर्षतः।।१२४।।
लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो हि सिध्यति। तथा सर्वं समर्प्यैव पुनः कार्यं निवेदिभिः।।१२५।।
पदार्थैस्तेन सम्बन्धे सिद्धे भाववतां दृढे। ततः सम्बन्धतः सिध्येन्निर्दोषसमता पुनः।।१२६।।
सेवायां सर्ववस्तूनां सर्वेषामधिकारिणाम्। अतस्तदुपयोगेन फलं सिद्धं न संशयः।।१२७।।
सर्वांशकृतसम्बन्धो यतः फलमिहोच्यते। ननु दोषनिवृत्तिः का मलस्येव हि नाशनम्।।१२८।।
अथवा परिपाकेन दोषतागमनं यथा। मृण्मयेपि घटे पाकादामतैव निर्वतते।।१२९।।
न मृण्मयत्वमेवं हि तन्निवृत्तिरिहोच्यते। इति संशयतः प्राह प्रभुर्गङ्गात्वमेव हि।।१३०।।

१ क्षतिः। २ देवव्रतो जनः।

दोषाणां तत्प्रविष्टानां जलानामिव सर्वथा। तत्प्रवेशे पुनस्तेषां गुणदोषादिवर्णना।।१३१।।
गङ्गात्वेनैव कर्तव्या न पानीयप्रयोगत:। शूद्रत्वादिकथात्रापि वैष्णवत्वेन बुध्यताम्।।१३२।।
उपदिश्य जनोद्धारं पुष्टिमार्गेण सर्वथा। निजास्यरूपाचार्येभ्यो[1] दयार्द्रेभ्यो दयानिधि:।।१३३।।
कृपया प्रकटीभूय साक्षाच्छ्रीगोकुलेश्वर:। लीलाविशिष्टरूपस्तद्धृदयं प्राविशद्धरि:।।१३४।।
इति श्रीवल्लभाचार्यदासदासेन रूपित:। तद्वाक्यगूढवाक्यार्थस्तेन तुष्यन्तु ते मयि।।१३५।।

इति श्रीहरिदासोदिता: सिद्धान्तरहस्यविवृतिकारिका: समाप्ता:।

श्रीकृष्णाय नम:।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीविट्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेतम्।

श्रीहरि:। श्रीमदाचार्या: स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गानभिज्ञान् स्वमार्गीयसिद्धान्तजिज्ञासून् स्वसेवकान् प्रति कृपया पुरुषोत्तमसिद्धान्तं निरूपयन्ति **श्रावणस्यामले पक्ष** इति।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

अर्धरात्रे साक्षादव्यवधानेन भगवता श्रीमद्विरिधारिणा यत्प्रोक्तं तदक्षरश इति प्रत्यक्षरेण सप्तप्रकारेण निरूप्यते। सप्तप्रकारानाह। श्लोकार्थ:, अर्धश्लोकार्थ:, पदार्थ:, प्रकरणार्थ:, वाक्यार्थ:, वेदार्थ:, अक्षरार्थ:। एतै: सप्तप्रकारै: साक्षादन्तरालरहितं मनोवाक्शरीरै: सकलांशेन भगवता पूर्णपुरुषोत्तमेन प्रोक्तं प्रकर्षेण निश्चयं कृत्वोक्तम्। उक्तं तत् कस्मिन्नवसरे? "श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि" इति एतस्मिन्नवसरे प्रोक्तम्। श्रावणे यदुक्तं तत्कथं, तत्र हेतुम् आहु:। श्रावणस्तु दक्षिणायनं चातुर्मास्यं च। तस्मान्निषिद्धमासे यदुक्तं तस्यायमाशय:। पुरुषोत्तमविषये सर्वदा विधिरेव, न तु निषेध:। उक्तं च "स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते। पुरुषं तमहं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्"। तथा चोक्तं दशमस्कन्धे जन्मप्रकरणे "अथ सर्वगुणोपेत: काल: परमशोभन" इति। एतावता भगवत्प्रवृत्तिर्यदा भवति, तदा सर्वे उत्तमयोगा भवन्ति इति उक्तम्। शुक्लपक्षस्य हेतुम् आह। शुक्लपक्षस्तु पूर्वजानां रात्रि:, तत्र कर्ममार्गानधिकार इति। उक्तं च एकादशस्कन्धे "न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा। व्रतानि यज्ञाछन्दांसि तीर्थानि नियमा यमा" इति। एकादश्या हेतुम् आह। एकादशी शिवतिथि:, शिवस्तु भक्तप्रधान:। उक्तं च चतुर्थस्कन्धे। "अथ भागवता

१ निजास्यरूपानाचार्यान् दयार्द्रान् इति पाठ:।

यूयं प्रिया: स्थ भगवान् यथा, न मे भागवतानां च प्रेयानन्यो अस्ति कर्हिचित्"। तस्माच्छिवतिथिरुक्ता। महानिशीथस्यायमाशय:। यत् शृङ्गाररसलीलाभजनमुक्तम्। उक्तं च चतुर्थस्कन्धे "संसारसिन्धुमतिदुस्तमुत्तितीर्षोर्नान्य: प्लवो भगवत: पुरुषोत्तमस्य। लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविधदु:खदवार्दितस्ये"ति।।१।।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयो:।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषा: पञ्चविधा मता:।।२।।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् इति। इदानीं श्रीमदाचार्यै: श्रीगिरिधरं प्रति प्रश्न: कृत:। यत् हे सुन्दरीकान्त भवता आज्ञा दत्ता, यज्जीवानां मदीयभजनमार्गं निरूपय। तत्र ते जीवा: सकलदोषनिधानम्, भगवान् सकलगुणनिधानम्। भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम:। जीवस्त्वपूर्ण: पुरुषाधम:। तर्हि भगवद्भजनं कर्तुं कथं योग्यो भवति। तथा च श्रुति: "देवो भूत्वा देवान् यजेते"ति। तदा श्रीमद्विरिधारिणोक्तम्–यद्ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वदोषनिवृत्ति:। भगवद्भजनं कर्तुमुद्युक्तो यो जीव: स तत्कालं शुद्धो भवति। तस्य शुद्धजीवस्य मया सह सम्बन्ध: कार्य:। अथवा। ब्रह्मणा मया सह सम्बन्ध: कार्य:। तत्सम्बन्धप्रकारा दशमस्कन्धे उक्ता: "कामं क्रोधं भयं स्नेहम्" इति श्लोके। तेषु षट्सु कामसम्बन्ध उत्तम:। कामसम्बन्धात् सकलदोषनिवृत्ति:। तत्र तत्सम्बन्धेन यथा कस्यचिद्राज्ञो दु:कुला स्त्री कामसम्बन्धेन भजन्ती राजतुल्या स्यात् तथा अनन्यत्वेन जीवो मां भजन् शुद्ध: स्यात्। कामसम्बन्ध इति किम्। साध्व्या आचार:। अथ च स्वैरिणीवत् नित्यनूतनभावेन भजनम् इति। उक्तं च दशमस्कन्धे "मयि निर्बद्धहृदया: साधव: समदर्शिन:। वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रिय: सत्पतिं यथे"ति। एतेनानन्यत्वेन व्यभिचारिण्या भावमादाय भजनं विधेयम् इति कामसम्बन्ध:। तथा चोक्तं सप्तमस्कन्धे "नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशला: स्वात्मदर्शना:। अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा"। पुनराचार्यै: पृष्टम्, यत् पतिभावभजने वर्णाश्रमाणां मध्ये को अधिकारी। तदा श्रीमद्विरिधारिणोक्तम्, जीवमात्रस्य भगवद्भजने अधिकार:। उक्तं च सप्तमस्कन्धे "देवो, असुरो, मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वे"ति। **सर्वेषां देहजीवयोरिति**। अस्य अयमर्थ:। यथा देहस्य जीवसम्बन्धात् सर्वदोषनिवृत्तिस्तथा **ब्रह्मसम्बन्धकरणात्** इति यथा जीवमन्तरेण देह: अपूर्ण:, तत्सम्बन्धेन सकलगुणपूर्ण: तथा ब्रह्मसम्बन्धात् इति। यथा जीवो देहदु:खेनातुरो भवति, तथाहं भक्तदु:खेनातुरो भवामि इति अर्थ:। अथवा। **देहजीवयोरिति**। भगवद्भजनेन तस्य हीनजातिरोगादयो दोषा: तथा हिंसादिपातकानि व्रजन्ति इति अर्थ:। उक्तं च तृतीयस्कन्धे "स्वपादमूलं भजत: प्रियस्ये"ति। पुन: श्रीमदाचार्यै: पृष्टम्, दोषा गता इति कथं ज्ञायते। तदा श्रीमद्विरिधारिणोक्तम्, **सर्वदोषनिवृत्तिर्हि** इतिशब्देन। निश्चयो यदा उत्पद्यते, तदा सर्वे दोषा गता इति ज्ञातव्यम्। उक्तं च भारते "वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायण:।

सर्वपापविशुद्धात्मा पाति ब्रह्म सनातनम्''। पुनः श्रीमदाचार्यैः पुष्टम्, दोषाः कति सन्ति। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तं **दोषाः पञ्चविधा मता इति**। तत्रापि द्वात्रिंशद्भेदाः सन्ति।

के ते दोषाः तान् प्रभुर्वदति **सहजा देशकालोत्था इति।**

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन।।३।।

सहजा द्वादश। देशोत्थाः सप्त। त्रयः कालोत्थाः। संयोगजाः सप्त। स्पर्शजास्त्रयः। एवं द्वात्रिंशद्भेदा वेदपुराणादिषूक्ताः। सहजा द्वादश। तत्र एकादश इन्द्रियाणां कुमार्गप्रवृत्तिरूपाः। एको देहस्य हीनजातिलक्षणः। देशस्य सप्त। उषरभूमिः, गर्दभक्षेत्रम्, दुर्जनवासः, हीनजलदेशः, जलान्तर्गतदेशः, स्वचक्रभीतिदेशः, परचक्रभीतिदेशः। त्रयः कालदोषाः प्रातरादयः। एते त्रयो दोषरूपाः। भगवद्भजने न गुणरूपाः। संयोगजाः सप्त, सहभोजनशयनासनगानमैथुनभाषनिवासादयः। मानसवाचिककायिकास्त्रयः स्पर्शजाः। एवं द्वात्रिंशत्प्रकारका दोषाः। एते प्रत्यहं भगवद्भजने क्रियमाणे सति नोत्पद्यन्ते। उक्तं च द्वितीयस्कन्धे ''यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्। लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः''। ''दशमस्कन्धे ''तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्''। **न मन्तव्याः कथञ्चन।** भगवत्सम्बन्धे सम्पन्ने एते दोषाः किं करिष्यन्ति इति अर्थः। प्रयत्ने क्रियमाणे चेदुत्पद्यन्ते, तर्हि हरिमेव शरणं गच्छेत्। शरणगमनाद्धरिः रक्षत्येव। प्रत्यहं करोति चेत्, तदा पतितो भवेत्।।३।।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, अनन्यत्वेन पतिभावं विना प्रकारान्तरेण जीवस्य दोषाः कथञ्चिदपि न गच्छन्ति इति, तत् किमन्ये मार्गाः सर्वे मिथ्याभूता इति। तदा श्रीमत्प्रभुणोक्तम् अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चनेति। अन्यथा करणे भगवत्सम्बन्धो न भवेत्, तदा कथमपि किञ्चिदपि सर्वदोषाणां निवृत्तिर्न स्यादित्यसमर्पितवस्तुवर्जनं कुर्याद् इति अर्थः। प्रकारान्तरेण साधननिष्ठेन किञ्चिदूदोषनिवृत्तिः, न तु सकलदोषनिवृत्तिः। यथा राज्ञाः स्त्री सकलदोषरहिता भवति, तत्सम्बन्धिनोपि भवन्ति परन्तु तन्सम्बन्धिनां सकलदोषा (न)? गच्छन्ति। तथा भक्त्या भवति।।। गच्छन्ति। ।।।त्वेन गच्छन्ति। उक्तं च गीतायां ''अपि चेत् सुदुराचार'' इति श्लोके। एतेन पतिभावभजनेन सर्वदोषनिवृत्तिः, न तु भावान्तरभजनेनेति श्रुत्वा पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, अनन्यत्वोत्पत्तेः किं साधनम्, तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्, असमर्पितवस्तुवर्जनं कार्यम्। एतेनान्यदेवसमर्पितस्य असमर्पितस्य च वस्तुनो वर्जने क्रियमाणे भक्तिभाव उत्पद्यते। पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्, असमर्पितान्यदेवसमर्पितवस्तुवर्जनं करोतीत्यावेशः

कथमुत्पद्यते। यद्यसमर्पितमश्नाति, तर्हि असुरावेशो भवति। अथ च भगवदनिवेदितनिवेदनात् सकलकर्ममिथ्यात्वम्। उक्तं च द्वितीयस्कन्धे ''तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नम'' इति। तस्मात् सर्वकार्याणि भगवति निवेद्य कार्याणि एवमावेशः कथमुत्पद्यते तस्य किं कथं कर्तव्यम् इति पुष्टे, श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्- **निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।** ये निवेदिनो धर्मिणो भक्तास्तेषां सङ्गतिः कार्या। तया सर्वे शुद्धा भवन्ति, मद्भक्तियोग्याश्च भवन्ति। एवं सत्सङ्ग एव प्राप्तेर्मूलम्। उक्तं च द्वितीयस्कन्धे ''किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः, ये अन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः''।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्-यत्कर्ममार्गे एवमुच्यते, अर्धं समर्प्यते, समर्पितं तदन्यस्मै दीयते, असमर्पितं च भुज्यते, तत्कथम्? तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्-देवदेवस्य पुरुषोत्तमस्य **मम साम्यर्धभुक्तं समर्पणं न मतम्**। उक्तं च गीतायां ''पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'' ''अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नाद्यमौषधम्। अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्त जन्मानि नारकी। विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभिश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते। पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने। रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभाजिनः। श्रीशं समर्प्य सर्वस्वं पुनर्ग्राह्यं समर्प्य च। भोक्तव्यमेव सकलं दासो नैव च दोषभाक्''। श्रीभागवतेपि ''त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे''ति। एतैः श्लोकैरेवमुक्तम्, यद् अन्यस्मै दत्तं न ग्राह्यम् परन्तु दासवनितयोर्यद् दत्तं भवति, तद् गृह्यते तथा दीयते तत्र न दूषणम्।।४-५।।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।६।।

तदा पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्-यदा किञ्चित् कार्यं क्रियते, तदा त्वां कथं समर्प्यते। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्-**तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणमिति।** यस्मात् सर्वांशेनासमर्पणं यस्मै भगवदमतम्, तस्मात् सर्वस्मिन्नपि कर्तव्यत्वेन प्राप्ते कार्यमात्रे आदौ प्रथमत एव उत्सवं कृत्वा सर्ववस्तूनां पदार्थानां मनोवाक्कर्मभिः समर्पणं कुर्यादित्येवंविधो भक्तिमार्गोऽस्ति। उक्तं च तृतीयस्कन्धे ''देवानां गुणलिङ्गानामानुश्राविककर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या। अनिमित्ता भागवती भक्तिस्सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा''। एतेन हरये सर्वं कार्यं नित्यं समर्पणीयं च। तेन सर्वं कर्मवागित्यादिकं भक्तिर्भवति इति अर्थः।

पुनः श्रीमदाचार्यैः पृष्टम्-दत्तापहारवचनं यत्, तत् किञ्चिद्विषयम्। ''अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्'' इति। तदा श्रीमद्गिरिधारिणोक्तम्। निवेदितस्वीकारे दत्तापहारवचनं ''यत् हरे''रिति मत्परत्वेन न ग्राह्यम् किन्तु भिन्नमार्गपरं ज्ञेयम्। भक्तिमार्गाद्भिन्ना ये

मार्गास्तत्परत्वेन ज्ञेयम्। अन्ये सर्वेपि प्रकारा: पुरुषोत्तमविषये न भवन्ति किन्तु मायावादिसिद्धान्ते भवन्ति। उक्तं च सप्तमस्कन्धे ''नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थ:। महीयसां पादरजोभिषेकं निष्क्रिञ्चनानां च वृणीत यावत्''। पुन: श्रीमदाचार्यै: पृष्टम्। मायावाद: कस्मिन् विषये प्रवर्तते। तदा श्रीमद्विरिधारिणोक्तम्-मल्लिलारसमन्तरेण सर्वं मायावाद उच्यते। उक्तं च पुराणान्तरे। ''जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्। तदन्यत् इति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधा'' इति। मायावादस्वरूपम् आह। वेदोक्तकर्माणि मन्यन्ते, निराकारस्वरूपं भजन्ते, द्वेषेण मोक्षं मन्यन्ते, सर्वदेवान् मां च समं मन्यन्ते, सर्वमेकीकृत्य जानन्ति, प्रपञ्चमसत्यं मन्यन्त इति मायावाद:।

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिध्यति।।७।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत:।

न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्। न ग्राह्यम् इति निवेद्य न ग्राह्यम् इति यद्वचनं तत् मद्भजनादिभिन्नमार्गपरं ज्ञेयम्। उक्तं च गीतायां ''अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मामेवाक्षयमव्ययम्''।

पुन: श्रीमदाचार्यै: पृष्टम्। सकलसिद्धान्तस्य फलमेकीकृत्य वक्तव्यम्। तदा श्रीमद्विरिधाणिणोक्तम्-लोके यथा सेवकस्य व्यवहार: प्रसिद्धो अस्ति तथा भजनं विधेयम्। उक्तं च गीतायां ''मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त: सङ्गवर्जित:। मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति''। एवं प्रथममन्यसेवकवद्भजनं विधेयम्। पश्चात् पतिव्रताधर्म आयाति। पुन: श्रीमदाचार्यै: पृष्टम्। सेवकस्य व्यवहार: कथमस्ति। तदा श्रीमत्प्रभुणोक्तम्-तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत इति। तथा लोके सेवकव्यवहार: तथा समर्प्य कार्याणि कर्तव्यानि। एवं क्रियमाणे मदाश्रयेण ब्रह्मस्वरूपो भवति। शुद्धो भवति इति अर्थार्थ:। यथा राज्ञ: प्रथमं कश्चिज्जातीय: सेवक आगत्य तिष्ठति। राजसेवकान् मिलित्वा स्वसेवां ज्ञापयति, अहमद्य प्रभृति भवदीयो अस्मि तथा भक्तौ नामग्रहणम्। पश्चाद्राजा आज्ञां ददाति, तदनन्तरं पृष्ट्वा-पृष्ट्वा राजकार्याणि करोति, पश्चाद्राजा पृच्छति, प्रसन्नो भवति, तदा तं स्वसदृशं करोति, तथाहमपि भक्तं शुद्धं करोमि। उक्तं च प्रथमस्कन्धे ''अतो वै कवयो नित्यं भगवत्यखिलात्मनि। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं ययात्मा सुप्रसीदति। श्रुतोनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदित:। सद्य: पुनाति सद्धर्मस्तन्नामग्रहणादिभि:''। एतेन मद्भजनेन मत्सदृशो भवति इति सूचितम्।

तत्र दृष्टान्त:। **गङ्गात्वं सर्वदोषाणाम्** इति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ १/२।।

यथा शुद्धमशुद्धं वा जलं गङ्गान्त: पतितं सत् गङ्गातुल्यं भवति। परन्तु गङ्गामध्ये

भिन्नं तिष्ठति। शौचादिकं कुर्वन्ति जना:, तदा गङ्गा अशुद्धं जलं ददाति, मलनिवारणार्थं निर्मलं जलं ददाति, पापक्षयार्थं गङ्गोदकं ददाति; एवं मत्सेवका मां भजन्तो मत्सदृशा भवन्ति। परन्तु सेवायां दासत्वेन स्थेयम्। यथा गङ्गायामपवित्रजलं किञ्चिद्भिन्नं भवति, तदा गङ्गोदकं न स्यात् तथा अन्यदेवाश्रितो भवति, स शुद्धो न स्यात्। उक्तं च षष्ठस्कन्धे ''यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि तं जनम्। आलोकयेन्न कृपया ह्यनन्यजनवत्सल:''। गीतायां च ''सर्वधर्मान् परित्यज्ये''ति। ननु सर्वधर्मेण सहैव निवर्त्यानां दोषाणां कथमेवं निवृत्ति:, तत्राहुस्तत इति। ततो ब्रह्मणि परं स्थितानामपि दोषाणां गङ्गात्वं गङ्गातुल्यत्वम् इति अर्थ:। यथा गङ्गातिरिक्तापवित्रजलानां गङ्गाप्रवाहान्त:पातित्वे सम्पन्ने गङ्गात्वमेव, तेषां न भव:, पृथग्भाव:। गङ्गात्वे सम्पन्ने पूर्वकालीनगुणदोषादिवर्णना यथा जलानां न निरूप्या भवति, तद्वदेवात्रापि भगवत्सम्बन्धे जाते ते पञ्चविधदोषाणां स्थितानामप्यदोषत्वम् इति अर्थ:। एवशब्दो अवधारणे। हि शब्दोप्युक्तं युक्तमेवेति।

इति श्रीश्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितं सिद्धान्तरहस्यविवरणं समाप्तम्।

श्रीकृष्णाय नम:।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतम्।

श्रीकृष्णदेवमुखपद्ममरन्दपूर्णवाक्यानुवादविनिवारितजीवदोषम्।
आचार्यवर्यचरणौ हृदये निधाय नत्वा वचस्तदुदितं विवृणोति दास:।।१।।

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञया तदभिप्रेतं भक्तिमार्गं प्रकटीकरिष्यन्तो ''यो वै भूमा तत्सुखम्'' ''कृषिर्भूवाचक: शब्द'' इत्यादिश्रुतिभिर्निरवध्यानन्दरूपस्य भगवत: कृष्णस्य ''स वा अयमात्मा अपहतपाप्मा'' इत्यादिश्रुत्या ''निर्दोषपूर्णगुणविग्रह'' इति पञ्चरात्रस्मृत्या च निर्दोषत्वात्, 'मुक्तोपसृप्य' सूत्रे च निर्दोषैरेव सेव्य इत्यपि सिद्धत्वादिदानीन्तनानां युगदोषेण सुतरां दुष्टत्वात्तत्कृतसेवारूपाया भक्तेर्भगवतानङ्गीकारे तत्फलाभावादुपदिष्टोपि भक्तिमार्ग: कथं फलिष्यति इति चिन्तां यदा कृतवन्त:, तदा तच्चिन्तानिवृत्त्यर्थमाविर्भूतेन भगवता कृपया साक्षाद्यदुक्तं तदत्र कृपया स्वीयान् ज्ञापयितुं प्राकट्यकालोक्तिपूर्वकमुपनिबन्धन्तरस्तद्वक्तुं प्रतिजानते श्रावणस्येत्यादि।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

अत्र मासपक्षतिथिसमयानामुल्लेखो विवक्षितसाधनस्य साधकगताधिभौतिकादि-

त्रिविधदोषनिवृत्तिसामर्थ्यसूचनार्थः। श्रवणर्क्षं हि वैष्णवम्, तत्सम्बन्धेन प्रसिद्धो मासः श्रावणो, ''यः कश्चिद्वैष्णवो लोक'' इति न्यायेन साधकजनपावनः। पूर्वः पक्षोप्यमलत्वात्प्रत्यहमधिकाधिकतमोहर इति मासपक्षौ बाह्यभौतिकदोषनिवर्तकौ। एकादशी चोपवासेनैकादशेन्द्रियदोषहारिका गुणाधायिका चेत्याध्यात्मिकदोषहरा। महानिशा च भक्तरक्षार्थमाविर्भूतस्य भगवतः प्रादुर्भावकालत्वादाधिदैविकदोषहरेति। एतादृशे काले प्रादुर्भूय यत्साधनमुपदिष्टं तत्साधकनिष्ठत्रिविधदोषनिवर्तकम् इति बोधितम्।

इदमत्रोच्यमानं सर्वं भगवद्वाक्यान्याकलय्य श्रीमदाचार्यैः पद्येषु तदर्थसङ्ग्रहरूपमुक्तम् इति सर्वे प्राञ्च आहुः।

अत्र मम त्वन्यदपि प्रतिभाति। तथाहि। एकादशस्कन्धे समर्पणं स्थलचतुष्टये निरूपितम्। तत्र पूर्वं योगेश्वरवाक्येषु कविना ''ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये। अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि ता''निति लक्षयित्वा, ''यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित्। धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहे''ति तन्माहात्म्यं चोक्त्वा, ''कायेन वाचा'' इति श्लोके सर्वक्रियाणां भगवदर्थे समर्पणमुक्तम्। ततोन्यानपि भक्तिपूर्वकगुरुभगवद्भजनादीनप्युक्त्वा, ''भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति''रिति द्वाभ्यां भक्तिप्रभृतीनि चत्वारि फलान्युक्तानि। ततः प्रबुद्धेन तत्र ''भागवतान्धर्मान् शिक्षेत्'' इति उपक्रम्य, ''सर्वतो मनसो सङ्गम्'' इत्यादिना तान् वदता ''इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्। दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्'' इत्याद्युक्त्वा, ततो भक्त्या मायातरणरूपं तच्छिक्षाफलमुक्तम्। एकादशाध्याये च ''भक्तिस्त्वय्युज्येत कीदृशी सद्भिरादृते''त्युद्धवप्रश्ने, ''मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्''इत्याद्यष्टभिर्भगवता सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् इति भक्तिमध्ये गणितम्; फलं तु तत्र नोक्तम्। तेन तत्र प्रश्नवाक्योक्तो भगवदुपयोग एव फलम्। ऊनविंशे तु महद्विमृग्यभक्तिप्रश्न उद्धवेन कृते ''भक्तियोगः पुरैवोक्त'' इति उक्त्वा, तत्परमकारणं कथयिष्यामि इति प्रतिज्ञाय, ''श्रद्धामृतकथायां म'' इत्यादिभिश्चतुर्भिस्तद्वदता, ''एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्'' इति अनेनाधिकारतयात्मनिवेदनमुक्त्वा ''मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत'' इति फलमुक्तम्। अतोत्र निरूप्यमाणं ब्रह्मसम्बन्धात्मकं समर्पणं तत्फलं तत्प्राशस्त्यं तदावश्यकत्वं च यदस्ति, तत्तेषामेव वाक्यानामनुवाद इति शङ्कानिरासार्थं कालविशेषे पृथगाविर्भूय भगवतोक्तम् इति बोधनाय तादृशतत्कालानुवाद[1] इति च। तथा वाक्यानि तु श्लोकरूपाण्यति भगवत एव। अक्षरश उच्यत इति कथनात्। तेन वाक्यकथनस्यैवेयं प्रतिज्ञेति च। (ननु[2] यदि तदानीन्तनवाक्यकथनस्यैवेयं प्रतिज्ञा, तदा समर्पणगद्यमपि कुतो नोक्तम् इति चेत्। उच्यते। तद्धि पञ्चाक्षरमन्त्रविवरकत्वादतिगोप्यम्, अतो नोक्तम्। शास्त्रे ह्यतिगोप्या

१ तदनुवाद इति पाठः। २ () चिन्हन्तर्गतं श्रपुरुषोत्तमैः पश्चाल्लिखितमिति प्राचीनपुस्तकेषु प्रायः तदर्शनाभावात् प्रतिभाति।

मन्त्रादय उद्धियन्त एव, न तु प्रकाशतया कथ्यन्ते। यथा स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशम् इत्यादि। तन्मन्त्रविवरकत्वं चैतस्यैव ज्ञेयम्। तत्र हि मन्त्रस्थोत्तमपुरुषान्तक्रियापदसूचितस्य कर्तुः स्वरूपम्, तस्य सपरिकरस्य भगवदीयत्वम्, तस्यैव भगवद्वियुक्तत्वादिबोधनात् मन्त्रस्थषष्ठ्युक्तभगवत्स्वामिकत्वसम्बन्धशालित्वं च विवृतम्, भगवत्पदविशेषितकृष्णपदेन च निरङ्कुशजगदीश्वरत्वादिबोधनादवतारं व्यावर्त्य मन्त्रस्थं कृष्णपदं विवृतम्, तादर्थ्यचतुर्थ्या समर्पणफलं च बोधितम् इति तथेति तदनुक्तिः। किञ्च, समर्पणं नवविधभक्तावात्मनिवेदनत्वेन प्रसिद्धम् इति न तत्र कोपि सन्देह इत्यतोपि। तथा। तस्य दोषनिवर्तकत्वं तु षष्ठस्कन्धे ''यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवये''त्यनेन भगवदीयसङ्गादुक्तम्। किञ्च, ''दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा''इति अत्र सर्वाशुभनिवारकत्वेन सिद्धस्य दुःसहभगवद्विरहतापस्य तदानीमभावात् सेवाङ्गीकारसम्पादिका दोषनिवृत्तिः कथं स्यात् इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं हि ब्रह्मसम्बन्धकरणपदेन तत्पूर्वोक्तं सर्वमनूद्य ततः सर्वदोषनिवृत्तिरत्राभिधित्सिता। एकादशोनविंशाध्याये भगवतात्मनिवेदनस्य भक्तिमार्गीयधर्माधिकारत्वबोधनेन एतस्यैवार्थस्य सूचनात्। अतो यद्दुरूहं तदेव व्युत्पाद्यम्, न तु निःसन्दिग्धं सुबोधं वा। अतोपि तदनुक्तिरिति जानीहि। ननु वाक्यकथनप्रतिज्ञापेक्षया तदर्थकथनप्रतिज्ञैव साधीयसी, एतदुपपादनानपेक्षत्वात् इति चेद् गद्यं मन्त्रविवरणरूपम्, तस्यार्थस्य सुतरां गोप्यत्वम्। अतोर्थप्रतिज्ञायामपि सर्वेषां वाक्यानामर्थे क्रियमारेऽपि वाक्यार्थप्रतिज्ञातत्वात् गद्यार्थः कुतो नोक्त इति शङ्का उदियात्, तदा गद्यस्यापि अर्थोवश्यं कर्तव्यत्वेनायाति, तदा वाक्यार्थयोः प्रतिज्ञायामविशेषः। तेनार्थप्रतिज्ञापेक्षया श्रीमुखवाक्यप्रतिज्ञा गरीयसि इति सैव कृता। गद्यार्थः कुतो नोक्त इति शङ्कायास्तदाप्युदयात्। उदितायां तस्यां तत्राप्युपपादनस्यावश्यकत्वम् इति पक्षद्वयेपि विशेषाभावात्। यत् पुनः प्राचीनैरत्र किमपि नोक्तम्, तत्रैतद्गोप्यत्वमेव बीजम्। मया तु यदिदमुक्तम्, तद्बहिर्मुखमुखध्वंसार्थमेवेति न तद्विरोधो दोषाय। यद्यपि मदुक्तौ मार्गरहस्यप्रकाशनापराध आयाति, तथापि प्रकाशनस्यान्यैरेव कृतत्वेन तदर्थसन्देहवारणस्यैव मत्कृतितया स्वोत्कर्षप्रकाशनार्थत्वाभावाद् भगवान् श्रीमदाचार्यचरणाश्च मदपराधं क्षमन्तिवति विज्ञापयामि इतिदिक्)। न च प्रबुद्धोक्तदारसुतगृहप्राणनिवेदनस्य कव्युक्तकायादिधर्मसमर्पणस्यैकादशाध्यायोक्तस्य दास्येनात्मनिवेदनस्य च गद्ये प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्ससमर्पणगद्यस्य तदनुवादत्वं शक्यम्। अर्थतः शब्दतो वा पुरोवादसादृश्यस्यानुवादत्वतन्त्रस्यात्रानुपलम्भात्। तदुक्तफलस्यात्राकथनाच्च। किन्तु सेवाकरणोपदेशात्पूर्वं ब्रह्मसम्बन्धकरणेनोनविंशोक्तसेवाधिकारत्वस्यात्र स्फुटत्वादात्मनिवेदनपूर्वकं क्रियमाणसेवाफलत्वेनोक्ताया महद्विमृग्यभक्तेरत्र सहस्रपरि इत्यादिनाधिकारिविशेषणेन फलतया सूचनात्प्रबुद्धाद्युक्तार्थस ङ्ग्रहेप्यन्तःकरणाप्तेहपराणामधिकाना निवेशनेनोनविंशोक्ताधिकारिविशेषणसूचितसंस्कारस्वरूपनिश्चायके अस्मिन् गद्ये योगेश्वराद्युक्तातिरिक्तमेवेदं समर्पणं बोध्यते। न चान्तःकरणाद्यन्तकथनस्याधिक्यात् समर्प्यत्वांशे अप्रामाण्यं

शङ्क्यम्। अम्बरीषमभिप्रेत्य ''ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्, हित्वा मां शरणं याता: कथं तांस्त्यक्तुमुत्सह'' इति नवमस्कन्धे दुर्वाससं प्रति भगवद्वाक्ये तेषामपि बोधनात्। न चास्मिन् वाक्ये हित्वेति पदाद्दारादित्याग एव बोध्यते, नतु समर्पणम् इति तदंशे कथमस्य प्रामाण्यम् इति शङ्क्यम्। अम्बरीषस्य तदानीं राज्यदशासद्भावेन परमहंसवद्बहिस्त्यागस्याभावादान्तर एव स वाच्य:। राजा च ''करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु'' इत्यादिवाक्यान्महाराजोपचारेण स्वयं सेवां करोति इति भगवद्धर्मं जानन् रक्षकत्वेन भगवन्तमनुसन्दधानस्तानि कथं न समर्पयेत् इति अर्थत एव प्राप्तत्वात्। वस्तुतस्तु राजा मर्यादापुष्टावङ्गीकृतो, न केवलपुष्टौ, न वा पुष्टिमर्यादायाम्, अतस्तस्य महद्विमृग्यभक्त्यर्थित्वाभावात्तत्र तदकथनेष्यदोष:। तस्य तदर्थित्वाभावे च ''केवलेन हि भावेने''ति सन्दर्भे तदनुल्लेख एव गमक:। श्रीकृष्णावतारात् प्राक् तस्य मार्गस्याप्राकट्यात् इति। तेन यदस्मिन् गद्ये उच्यते, तन्न कस्याप्यनुवाद: किन्तु कर्मण: कल्पसूत्रवदिदमात्मनिवेदनप्रकारनिश्चायकम्,[1] अतो नात्रानुवादशङ्कालेश इति दिक्। न च भवत्वेवम्, तथाप्यत्र पूर्वोक्तवाक्यार्थसङ्ग्राहकत्वं तु स्फुटम्। तथा सति तत्र पुरुषाणां जिज्ञासूनामेवाधिकारदर्शनादत्र पुमांस एवाधिकुर्यु:, नतु स्त्रियोपि इति शङ्क्यम्। ''को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्। न भजेत्सर्वतो मृत्युरुपास्यममरोत्तमै:। सर्वेधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप। देवासुरो मनुष्यो वे''त्यादिवाक्यैरिन्द्रियवत्त्वेनैव सर्वेषां नवविधायामपि भक्तौ सामान्येनाधिकारसिद्धौ भक्तिविशेषभूत आत्मनिवेदने स्त्रीणां नाधिकार इति वक्तुमशक्यत्वात्, निषेधाभावात्, प्रत्युत सप्तमस्कन्धे ''तत्तु कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदध'' इति दैत्यबालकान् प्रति प्रह्लादवाक्ये कयाधूमुद्दिश्य नारदेन नवविधभक्त्युपदेशस्य बोधनेन तस्यां तस्यापि प्राप्तेश्च। भगवताप्येकादशे सम्वादं समापयता ''साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्ति: स्याच्छूद्रयोषिताम्'' इति शूद्रयोषिद्भ्यो भक्तिसद्भावे पूर्वोक्तसर्वकथनस्याज्ञप्तत्वात्। कथनस्य च यथाधिकारं करणैकप्रयोजनत्वात्। ''विद्याधरा मनुष्येषु वैश्या: शूद्रा: स्त्रियोन्त्यजा:। रजस्तम: प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगे अनघ। बहवो मत्पदं प्राप्ता'' इति तासामपि सत्सङ्गफलस्यापि बोधनाच्च। न च भवतु स्त्रीणामप्यात्मनिवेदनेधिकार:, तथापि स्त्रीव्यक्तिवीतरागिबालानां निवेदने कार्यमाणे तेषां दाराद्यभावात्तत्र तत्पदाकथनं पत्याद्यूहश्च प्राप्नोति, अन्यथा तेषामसमर्पितत्वे तत्सङ्गाद्दोष: स्यात्, अत: स तत्र कुतो न क्रियत इति शङ्क्यम्। सृष्टिन्यायाद्भूमनिबन्धनया गौण्या दारपदात्पत्यु: सुतपदात् पित्रोश्चोपलक्षणे तेषां समर्पितत्वसिद्धे: पूर्वोक्तदोषासंसर्गे तत्प्रयोजनाभावात्। सृष्टिन्यायस्तु पूर्वतन्त्रे प्रथमाध्यायस्योपान्त्ये। तत्र हि ''सृष्टिरूपं दधाति'' इतिवाक्यं सृष्टिसञ्ज्ञकानामिष्टकानामुपधानं विधत्ते। तत्र का: सृष्टय इति आकाङ्क्षायाम् ''तद्वानासामुपधानो मन्त्र'' इति पाणिनिसूत्राद्यदुपधाने सृष्टिवान् मन्त्रस्ता: सृष्टय इति सिध्यति। मन्त्रास्तु ''ब्रह्मासृज्यत, भूतान्यसृज्यन्त'' इत्यादय: पश्चात्पठ्यन्ते। प्रथममन्त्रे सृजतिर्न प्रयुक्त:, किन्तु दधाति प्रयुक्त:,

१. निश्चायकमिति बोध्यमिति पाठ। २ ४-४-१२५ सूत्रपाठे ।

एकया स्तुवत प्रजा अधीयन्तेति तत्पाठात्। तथापि द्वितीयतृतीयादिषु बहुषु मन्त्रेषु सृजति धातुप्रयोगाद्भूमरूपं सादृश्यमस्ति इति सृष्टिशब्द:। स सृष्टिसङ्गं बोधयति इति। ननु भवत्वेवम्, तथापि देहाद्यात्मान्तान् समर्पयामि इति अनुक्त्वा, यदत्रैवमुक्तम्, तत्र किं बीजम् इति चेत्। उच्यते। विधेयांशनिष्कर्षोनूद्यैष्वध्यासाभावाय तत्स्वरूपस्फुटीकरणं चेति जानीहि। अत्र ह्यात्मनिवेदने सर्वसाहित्यं विधेयम् इति देहादीननूद्यात्मसाहित्यमवयुत्या निरूप्यते। देहादयो अहम् इति अध्यासविषयास्तद्धर्मा अहं ममेत्युभयाध्यासविषया दारादय: केवलममताविषया इति। आत्मना सहेति सहपदप्रयोगस्तु पितरि निमन्त्रिते पुत्र: पित्रा सहागत इत्यत्रेव प्राधान्यं न विहन्ति। तस्माद्गद्ये बोध्यमानं समर्पणमूनविंशोक्ताधिकारस्वरूपस्यैव बोधकम्, नतु कस्याप्यनुवाद:, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात् इति। प्रकृतमनुसराम:।।१।।

एवं प्रतिज्ञाय **वाक्यान्याहुर्ब्रह्मसम्बन्धेत्यादि।**

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयो:।

सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषा: पञ्चविधा: स्मृता:।।२।।

ब्रह्मसम्बन्धो नाम सर्वस्मिन् भगवत्स्वामिकत्वरूप: सम्बन्ध:, तस्य करणं नाम भगवता आचार्यान् प्रति गद्येनोक्तो य आत्मसमर्पणप्रकार:, तद्रीत्या भगवति स्वात्मसहितस्वीयसर्वपदार्थानां भगवति तथात्वविज्ञापनम्। ''स वै नैव रेम'' इति श्रुते:, ''क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्यु''रित्यादिवाक्याच्च, वस्तुत: सर्वस्य भगवदीयत्वेपि ''स वै नैवे''त्यादिश्रुत्या रमणार्थं द्वितीयनिर्माणादिश्रावणात्तेनापादिता या तत्तत्पदार्थे जीवस्य स्वत्वस्वीयत्वाभिमति: तत्परित्यागेन तेषु भगवदीयत्वस्य विज्ञापनम् इति यावत्। तस्मात्सर्वेषां समर्पितात्मनां देहजीवयो: स्थूललिङ्गशरीरयो:। सर्वदोषनिवृत्ति:। हि निश्चयेन। (यतो भगवतैव गीतायां ''यत् करोषि यदश्नासि'' इत्यादिना सर्वकर्मार्पणं कर्तव्यत्वेनोपदिश्य, ''शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै''रिति तत्फलमुक्तम्। एकादशे च ''यानास्थाय नरो राज''न्नित्यनेन प्रमादाद्यभावरूपं भगवद्धर्मास्थितिफलमुक्तम्)। युक्तं चैतत्। वस्तुत: सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्तत्र भगवदीयत्वे अनुसंहिते तदुपदेहभूतप्राकृतगुणजन्यदोषस्य निवृत्तिर्भवति इति। तथा च जीवादिदोषवशात्तत्कृतसेवाङ्गीकारविषयिणी चिन्ता न कार्येत्यर्थ:। अत्र सर्वेषाम् इति अनेन ''देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा। भजन मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्'' इति सप्तमस्कन्धीयप्रह्लादवाक्योक्ता: सर्वेपि भजनाधिकारिण: सङ्गृहीता:। जीवपदेन च शरीरविशिष्टश्चेतन:, नतु केवल:, तस्मिन् स्वतो दोषाभावस्यासङ्गश्रुत्या शारीरब्राह्मणे सिद्धत्वात्। देहपदस्य पृथगुक्तिस्तु स्थूलशरीरदोषाणामभीक्ष्णमनुभूयमानतया दोषाकरत्वबोधनार्था। यद्वा। जीवपदेनाविद्यासम्बन्धवांश्चेतन:। देहपदेन देहद्वयम् इति बोध्यम्। ननु ब्रह्मसम्बन्धकरणमात्राच्चेत्सर्वेषां देहजीवगतसर्वदोष-

१. () इदमपि श्रीपुरुषोत्तमानां पाञ्चालम् ।

निवृत्तिः, तदा निर्दुष्टत्वात् प्रतिबन्धकाभावेन तदानीमेव सेवया मुख्यफलप्राप्तिः, गद्ये तादर्थ्येनैव समर्पणस्योक्तत्वात्, तस्य दानहेतुकत्वाद्भगवदिच्छाधीनत्वात्, तदभावेपि सायुज्यप्राप्तिस्तु स्यादेव। तत्र प्रतिबन्धकस्याभावात् सेवायाश्च पूर्वं कृतत्वात्, प्रमाणसिद्धायास्तस्या नैष्फल्यस्य[1] वक्तुमशक्यत्वात्। तथा सति विवक्षितस्य पुष्टिमर्यादाभक्तिमार्गस्यैवोच्छेदः, उपदेशकस्याभावात्। किञ्च, उक्तरीत्या ब्रह्मसम्बन्धकरणोत्तरमपि दोषाणां प्रत्यक्षतो अनुभूयमानत्वात्तद्विरोधोपि इति कथं तन्निवृत्त्यवगतिरिति आकाङ्क्षायां दोषानिवृत्तिस्वरूपं वक्तुं पूर्वं दोषान् गणयंस्तन्निवृत्तिस्वरूपं सपादश्लोकेन भगवानाहेत्याहुर्दोषा इत्यादि। अत्र जीवस्य सहजा दोषा अविद्यासम्बन्धतत्कृताभिमतिप्राणधारणप्रयत्नाः। लिङ्गदेहस्य सहजाः कामक्रोधादयः क्षुधादयश्च। स्थूलदेहस्य सहजास्तु मातापितृमलानुषङ्गात्मत्वं रोगादयश्च। देशकालोत्थादयस्तु देहयोरेव, न जीवस्य। ते तद्द्वारा जीव उपचर्यन्ते। तत्र देशोत्था मगधमरुसिन्धुप्रभृतिदेशेषूत्पत्त्या तत्र गमनादिना च जाताः। **कालोत्थाः** कलिप्रभवा दुर्मुहूर्तप्रभवा अवस्थादिकृताश्च। उत्थशब्दो द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेनात्र दोषद्वयम्। एतान् भक्तिमार्गीयेभ्यो दोषेभ्यो व्यावर्तयितुं विशिंषन्ति **लोकवेदनिरूपिता** इति। इदं च विशेषणं देहलीदीपवत् पूर्वापरयोः सम्बध्यत इति पञ्चस्वपि तदन्वयः। उचितं चैतत्। ''गुणदोषभिदा दृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वत'' इत्येकादशस्कन्ध उद्धववाक्ये गुणदोषयोः श्रुतिमूलकत्वस्य कथनात् लोकस्यापि दूरतस्तदुपजीवकत्वात् इति। संयोगजाः। बुद्धिपूर्वकं कामेन च सम्यङ्मनोयोगजन्याः। **स्पर्शजा** अबुद्धिपूर्वकमकामतश्च जाताः। ते **कथञ्चन** केनापि श्रौतेन वा स्मार्तेन वा लौकिकेन वा प्रकारेण न **मन्तव्याः** सेवाप्रतिबन्धकतया न विचारणीयाः। ब्रह्मसम्बन्धकरणोत्तरं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु तद्धर्मेषु च भगवदीयत्वे अनुसंहिते तत्स्वामित्वेन तत्प्रेरकत्वेन च भगवत एवानुसन्धानात्तेषां स्वम्बन्धित्वनिवृत्तिरिति तेषां स्वरूपतः सत्त्वेपि पारक्यवत् तं प्रत्यकिञ्चित्करत्वात्तेषां सेवाप्रतिबन्धकत्वनिवृत्तिरेव निवृत्तित्वेनाभिप्रेता, नतु स्वरूपतो निवृत्तिरत्राभिप्रेता। तथा च स्वरूपतः सत्त्वान्न तदानीमेव सायुज्यादिप्राप्तिः, न वा प्रत्यक्षविरोधः। प्रतिबन्धसामर्थ्यस्य निवृत्तत्वाच्च सेवाङ्गीकार इति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः। नन्वेवंविधाया दोषनिवृत्तेः प्रायश्चित्तादिनापि सम्भवाद्ब्रह्मसम्बन्धतः को विशेष इत्यत आहुरन्यथेत्यादि। अन्यथा एतदतिहाय सर्वदोषाणां निवृत्तिः **कथञ्चन** केनापि कर्मज्ञानभक्तिरूपेण साधनेन न, दोषहेतूनां कर्मदेशकालानां विद्यमानत्वात्तैः संयोगस्पर्शाभ्यां तदुत्पत्तिनैयत्यात्। कृते तु ब्रह्मसम्बन्धे दूष्येषु जीवदेहादिषु भगवदीयत्वानुसन्धानात्तेषु स्वसम्बन्धनिवृत्तेर्दोषाणामकिञ्चित्करत्वम् इति इदमेव स्वतन्त्रं दोषनिवृत्तिसाधनम्, नान्यत् इति अर्थः।

अत्रेदं बोध्यम्। एकादशस्कन्धे ''योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे''तिवाक्ये भगवता त्रीणि जीवानां श्रेयःसाधनान्युक्तानि। श्रेयश्च

१. नैर्बल्यमिति पाठः।

दुःखाभावः सुखं चेति। चतुर्थस्कन्धे ''श्रेयस्त्वं कतमद्राजन्कर्मणात्मन ईहसे। दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यत'' इति नारदेनोक्तम्। तत्र पूर्वं दुःखाभावो मृग्यः। बुद्धेस्तत्रैव प्रथमप्रवृत्तेः। दुखं च पूर्वोक्तेभ्य एव दोषेभ्यः। दोषाणां च निवृत्तिर्न प्रायश्चित्तकर्मणा आत्यन्तिकी। तदुत्तरमपि पुनः पापे मनःप्रवृत्तिदर्शनात्। ''कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते। अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम्'' इति षष्ठे शुकवाक्याच्च। न च तर्हि ज्ञानातन्निवृत्तिरस्तु। ''यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुते अर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे''ति गीतायां भगवद्वाक्याच्चेति शङ्क्यम्। ''नाशनतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोभिभवन्त्युत। एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते। तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च। त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च। देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः। क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानल'' इति त्रिषु प्रथमे पथ्याशनदृष्टान्तेन शनैर्नानासाधनतः क्षेमशब्दोदितज्ञानोत्पत्तिमुक्त्वा, द्वितीये तत्सहकारीणि नवसाधनान्युक्त्वा, तृतीये पापनाशकथनात्। श्रीधरीये तप ऐकाग्र्यम्। ''मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तप'' इति स्मृतेः। ब्रह्मचर्यं च ''स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पो अध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव चे''त्यष्टाङ्गमैथुनाद्विपरीतम्। शमो मनोनिग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः। त्यागो दानम्। सत्यं सत्यभाषणम्। शौचं देहाशुद्धिनिवारक आचारः। यमो अहिंसादिः। नियमो जपादिरिति तेषां विवरणात्। एवं बहुकालतो दोषनिवृत्तिरिति सहकार्यभाव इदानीं ज्ञानस्योत्पत्तेरेव दुर्घटत्वात्कथञ्चित् भवनेपि सहकारिसम्पत्तेर्दुर्लभत्वाच्च।

अतः परं भक्तितो दोषनिवृत्तिरवशिष्यते। ''केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः। अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव भास्करः। न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया। सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमो अकुतोभयः। सुशीलाः साधवो यत्र नारायण-परायणाः। प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्। न निःपुनन्ति राजेन्द्र सुराभाण्डमिवापगाः। सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तदुणरागि यैरिह। न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृता'' इति वाक्यैस्तस्या अपि पापनिवारकत्वेनोक्तत्वात्। सा तु ब्रह्मसम्बन्धकरणादेव सिध्यति, न तु तदतिहाय। तथा हि। अत्र प्रथमे 'केचित्' इतिपदेन तादृशाधिकारिणां दुर्लभत्वं सूचितम्। 'केवलये'तिपदेन सहकारिनिरपेक्षत्वबोधनाद्भक्तेर्ज्ञानापेक्षया प्राबल्यं च बोधितम्। 'कात्स्न्र्य'पदेन नीहारभास्करदृष्टान्तेन च निरन्वयपापध्वंसजनकत्वम्। प्रौढे भास्करे नीहारस्य तथा नाशात्। द्वितीये 'कृष्णार्पितप्राण' इत्यधिकारिविशेषणेन तस्य कृतब्रह्मसम्बन्धत्वस्य बोधनात्। उचितं चैतत्। अपहतपाप्मनः स्वस्वामित्वे अनुसंहिते दोषनिवृत्तेर्युक्तत्वात् इति। परमयं विशेषः। तथा हि। तत्र तृतीयान्तेन 'तत्पूरुषनिषेवये'तिपदेन सर्वदा भगवद्भक्तसङ्गित्वं च सूचितम्। तृतीये मार्गोत्कर्षबोधनार्थं भगवद्भक्तस्वरूपबोधनेन दाम्भिकादिसंसर्गत्यागः सूचितः।

सि.र. ६

चतुर्थे बहिर्मुखप्रकृतप्रायश्चित्तस्य ''सुराभाण्डमिवापगा'' दृष्टान्तेन वैफल्यमुक्त्वा, पञ्चमे सकृद्भगवच्चरणनिवेशितमनस्तद्गुणरागि येषां जातम्, तेषां यमद्भटदर्शनाभावबोधनेन पापानां निःशेषनाशो निगमितः, ततो अजामिलोपाख्याने प्रपञ्चितश्च। अतो भगवद्भक्तसङ्गो दाम्भिकतत्सङ्गत्यागः साधनान्तरश्रद्धाराहित्यं भगवद्गुणरागिचित्तत्वं च यदा भवति, तदा तथेति। यतस्तस्यापि निर्णयः श्रीमदाचार्यैस्तत्रत्यनिबन्धे ''भगवत्सेवका ये तु कथञ्चिद्भिन्नतां गताः। सर्वात्मना पापनाशस्तेषामेव भवेत् ध्रुवम्'' इति कारिकया निरूपितः। एवं सति ये पूर्वं भगवत्सेवकाः कुतश्चन हेतोरिहागताः, तेषामेवार्थे अयं मार्ग इति त एव ब्रह्मसम्बन्धकरणे तेन निवृत्तसर्वदोषा भवन्ति। त एव च तत्राधिकुर्वन्ति। अत एव निबन्धारम्भे ''सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः। भवान्तसम्भवा दैवात्तेषामर्थे निरूप्यत'' इति उक्तम्। एवं च यद्यपि ''सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृपे''ति माघस्नानविषयकवाक्योक्तदृष्टान्तात् ''देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा। भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्'' इति सप्तमस्कन्धीयप्रह्लादवाक्याच्च स्वरूपयोग्यतारूपः सर्वेषामधिकारः, तथापि फलमुख उक्तविधानामेव। अतो ब्रह्मसम्बन्धस्तादृशामेव कारणीयः। तादृशत्वं चोत्कटभजनादरजनिकया गुरुशुश्रूषया तदनुकूल प्रश्नमार्गरुचिवेशभाषाचार श्चावधारणीयम्। यः पुनः पूर्वं पापाचारः पश्चाद्भगवन्मार्ग उत्कण्ठते, सोप्युपदेष्टव्यः, ''अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः'' इतिवाक्ये तादृशस्यापि साधुतया मन्तव्यत्वकथनात्। ''क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'' इत्यनेनाग्रे तदभिज्ञापकस्यास्यापि कथनाच्च। यस्तु स्वयमनुत्कण्ठः सत्सङ्गात्कुलपारम्पर्याद्वोपसीदेत्, सोप्युपदेशमर्हति। परं तत्र भगवत्कृपायाः सन्दिग्धत्वात्फलमुखता न निश्चेतुं शक्या। तथापि तदुपदेष्टरि न दोषमावहति। सत्सङ्गादिना तथा सम्भावनया कृतत्वात्। स परं परीक्षणीयः। यदि पश्चाच्छ्रद्धेते भगवद्धर्मे, तदा तु ''यथा-यथा हरिः कृष्णो मनस्याविशते निजे। तथा-तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धत''इत्याचार्यचरणोक्तात् ज्ञापकान्मार्गरीत्या बोधनीयः। यद्युदास्ते, तदा न बोधनीयः। यदा तु बाहिर्मुख्यं प्रकटयति, तदा तूपेक्षणीयः। ''ईश्वरे तदधीने च बालिशेषु द्विषत्सु च। प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यम'' इत्येकादशस्कन्धे योगेश्वरवाक्ये भागवतलक्षणे तथोक्तत्वात्। ''निवेदितात्मभिन्नेषु सदौदासीन्यमाचरेत्। प्रावाहिकास्तेपि चेत् स्युरुपेक्षैवोचिता सदे''ति विज्ञप्तौ प्रभुचरणैरपि तथोक्तत्वात्। ''विजातीयजनाक्रान्ते निजधर्मस्य गोपनम्। देशे विधाय सततं रथेयम् इत्येव भासते। हरेरेव तथेच्छास्ति सर्वोद्धृतिविरोधिनी। अन्यथाचार्यविमुखाः कथमेतत्पथि स्थिता'' इति पत्रेपि[1] तथा लिखितत्वाच्च। तदेतदौच्छृङ्खल्यनिवारणाय मार्गरीतिबोधनाय तत्रान्यथाबुद्ध्यपहाराय च प्रसङ्गादुक्तम्।

१ इदं पत्रं वेणुनादे मुद्रितम्।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन।।३।।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।

प्राङ्भिस्त्वत्र पञ्चविधदोषस्वरूपमात्रं स्वस्वविचारितरीत्योच्यते, न तु प्रासङ्गिकं विचार्यते, न वा प्रत्यक्षविरोधः परिहियते। तथा सति तन्मतेनाधुनिकानां जघन्याधिकारिणां तद्रीत्या दोषनिवृत्त्यादिः क्लेशेन साधयितव्य इति तन्मतं विहाय श्रीरघुनाथानां विवरणमनुसृत्यैवं विवृतम्। श्रीगोकुलनाथैस्त्वत्र पूजामार्गोक्तदोषाणामेव निवृत्तिर्ब्रह्मसम्बन्धेनाभिप्रेयते। तत्र देहस्य भौतिकत्वाद्भूतशुद्धिनिवार्याः सहजाः। ''अपसर्पन्तु ते भूताः'' ''पवित्रं कुरु चासनम्'' इत्यादिना आसनादिशुद्धिविधानात्पूजादेशेपि दोषाः सन्ति इति देशोत्थाः। ''प्रातर्होमं च कृत्वैव कृत्वा वा ब्रह्मयज्ञकम्। यद्वा माध्याह्निकं कृत्वा पूजयेत्पुरुषोत्तमम्'' इति कालविधानादन्यकाले पूजने कालोत्थाः। एतयोरेकपदोपात्तत्वादैक्यम्। लोकनिरूपितस्तु ''आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिन'' इति वाक्यात्पुनरावृत्तिरूपः। वेदनिरूपितस्तु ''यस्य स्मृत्या चे''ति वाक्योक्तो न्यूनत्वादिः। एतयोरप्यैक्यम्। संयोगजस्त्वभिमन्त्रितजलादावनभिमन्त्रिततत्संयोगजः। आसादितानां गन्धपुष्पादीनां स्त्रीशूद्रस्पर्शजः। चकारादन्ये नैवेद्यादौ दृष्ट्यादिजाः। ते न भक्तिमार्गे, **न मन्तव्याः, न गण्या** इत्येवं व्याख्यानात्। तत्र हेतुस्तु ब्रह्मसम्बन्धकरणमेव। तथा च तदपराधानां भगवतैव निवारणात्तथेति तदाशयः।।२।।

प्रकृतमनुसरामः। ननु भवत्वेवं पूर्वदोषनिवृत्तिः, तथापि कर्मदेशकालानां दोषहेतूनां विद्यमानत्वात्तैः संयोगाद्युत्पादने ताभ्यां जायमाना दोषाः कथं निवारणीया इत्यत आहुः असमर्पितेत्यादि।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।
निवेदिभिः समप्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।

यस्माद्ब्रह्मसम्बन्धमन्तरेण न सर्वदोषनिवृत्तिस्तस्माद्धेतोः असमर्पितवस्तूनां आत्मसमर्पणोत्तरं लब्धानां 'सर्वलाभोपहरणम्' इति उक्तरीत्या भगवत्यनिवेदितानां पदार्थानां वर्जनमाचरेत्। वृजी वर्जने। वर्जनं संसर्गराहित्यम्, तत्कुर्यात्। तानि भगवते अनुपहृत्य न स्वयं विनियुञ्जीत। प्रारब्धादयो हि न दृष्टसामग्रीसम्पादनरूपव्यापारं विना संयोगस्पर्शावुत्पादयन्ति। तत्सम्पादिता च समाग्रसमर्पितैव दोषावहा, नतु समर्पिता, भगवदीयत्वात्। अतो असमर्पिताया असंसर्गे संयोगस्पर्शाभ्यां भाविनां दोषाणामसंश्लेषादेव वारणम् इति अर्थः। ननु भवत्वेवं कालादिकृतदोषवारणम्, तथापि प्रारब्धवशाद्विद्यमानस्य देहादेर्निर्वाहस्तु भगवदीयेनैवान्नादिना कार्यः। तथा सति स्वस्य स्वामिवस्तुभोगजनितो दोषः सेवां प्रतिबन्धीयात्, अतस्तस्य कथं निवृत्तिरित्यत आहुः निवेदिभिरित्यादि। निवेदिभिरिति करणे तृतीया। निवेदो निवेदनं भगवति समर्पणम्, तद्येषामस्ति, मतु-

बर्थे णिनिः। तानि निवेदनानि तैर्निर्वाहकरणभूतैः समर्प्यैव सर्वं कुर्यात्। स्वात्मसमर्पणावसरे भगवते निवेदितैर्दारादिभिश्चेतनैर्गृहवित्तादिभिरचेतनैश्च यत् कुर्यात्, तत्सर्वं भगवते तेषां यथोचितविनियोगरूपं समर्पणं विधायैव कुर्यात्। "शास्त्रे निवेदनं दानं ह्यर्पणं त्रिविधं स्मृतम्। निवेदनं समुद्दिश्य द्रव्यस्य ज्ञापनं मतम्। दानं स्वकीयतात्यागः परस्वापादनं विधेः। अर्पणं स्वामिभोग्यश्य स्वामिने ज्ञापनं मतम्। सूददृष्टान्तदृष्टेन तदेवं त्रिविधं प्रमे"ति क्वचिद्वैष्णवनिबन्धे दर्शनात्। अत एवात्र 'निवेद्ये'त्यनुक्त्वा "समर्प्ये"ति शब्दान्तरमुक्तम्। समुपसर्गश्च भावपूर्वकत्वायोक्तः। तथा च चेतनान् भगवत्सेवायां विनियुञ्जन्नचेतनान् गृहवित्तादीन्नुपयोजयन्नन्नादीन्नैवेद्यरूपेण वस्त्रालङ्कारादींश्चोचितविनियोगे नियोजयन् "त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि" इति उक्तरीत्या तदुत्तप्रसादत्वेन तत्तदुपयुञ्जीत। इति स्थितिः। एषा निर्दुष्टा भक्तिमार्गमर्यादा। अत्र सर्वपदेन लौकिकं वैदिकं च यद्विधित्सितं कार्यं तदुच्यते, निवेदिभिरिति वस्तुविशेषणेन समर्पणक्रियया च सर्वत्र शेषित्वेन भगवतः स्मरणं बोध्यते। तथा चैवं तत्प्रसादेन स्वस्वीयसर्वनिर्वाहे क्रियमाणे स्वामिनैव तन्निर्वाहार्थं स्वीयवस्तूनां प्रसादत्वेन दत्तत्वस्यानुसन्धानात् न तद्भोगेन दोष इति अर्थः। न चोक्तवाक्यस्यावतारकालिकविषयत्वादिदानीं प्रसाददानानुसन्धानस्याहार्यत्वात्तेन कथं दोषनिवृत्तिरिति शङ्क्यम्। एतादृशानुसन्धानस्यापि फलसाधकत्वात्। "इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम्। उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत्पुनः इति" भगवद्वाक्येन तथा निश्चयात्। एतदेव पुराणान्तरेप्युक्तम्। "अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्। कृत्वा विष्णूपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै"रिति। "विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत" इति च। न चैवं प्रक्षालनपङ्कन्यायापत्त्या गार्हवस्तूनां समर्पणात्पूर्वं भगवदीयत्वमेव नाङ्गीकार्यम्। आत्मसर्पणावसरे वित्तोल्लेखस्य भाविनि परलोक इव भूते वित्तेप्यभिमानमात्रनिवृत्त्यर्थत्वेन तदानीं भगवदीयत्वानापादकत्वात् इति वाच्यम्। समर्पणात्पूर्वमपि वस्तुतः सर्वस्य भगवदीयत्वेन त्यक्ते स्वाभिमाने सुतरां तथात्वेनोक्तरीतिं विना पूर्वोक्तदोषानपायात्। न च "यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति" इति सप्तमस्कन्धवाक्यात् निर्वाहमात्रार्थग्रहणे दोषस्य न सम्भव इति वाच्यम्। तस्य सामान्यत्वात्। आत्मनिवेदनमुपक्रम्य पदपाठात्। तावताभिमानजनितदोषाभावेप्यभिमा

नस्य विद्यमानत्वेनैतदपेक्षया पूर्वोक्तस्यैवोत्कृष्टत्वात् इति। एवमत्र सर्ववस्तुसमर्पणोपदेशेन स्वामिवस्तुग्रहणदोषो निवारितः।

अतः परं समर्पणं यथा न दुष्यति, तं प्रकारं वक्तुं पूर्वं दूषितसंसर्गनिषेधम् आहुः न मतम् इत्यादि।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।।५।।

देवदेवस्य पूज्यानामपि पूज्यस्य भगवतः। सामिभुक्तस्यार्धभुक्तस्य समर्पणं

न मतम्। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो हि भोगः, तद्विषयं भुक्तम्। तथा च यत उद्धृत्य ग्रहणाद्यनन्तरं शिष्टे भुक्तशेषत्वव्यवहारः, तस्मामिभुक्तम्। वस्तुनः सदसत्त्वादिपरीक्षार्थं तत उद्धृत्य मुखादौ क्षेपे आघ्राणे हस्तलापने वा शिष्टस्य न सामिभुक्तत्वम्। तच्छिष्टे भुक्तशेषव्यवहाराभावात्। तत्रापि बीजं स्वस्य तद्दर्शनाद्युत्तरं तद्भुक्षाभावो बुभुक्षोत्तरं तदुपादानयत्नाभावो वा। यदि पुनः कस्यचिद्भुक्षोत्पत्तिः, तदा तस्य चेतनस्यैवापराधित्वम्। मानसिकव्यभिचारादिव। नत्वचेतनस्य वस्तुनः सामिभुक्तत्वम्। यदा तु बुभुक्षोत्तरमिन्द्रियव्यापारः, तदा तु वस्तुन्यपि दोष इति तादृशस्य समर्पणं क्रियादूषकत्वात् न सम्मतम् इति अर्थः। एवञ्च यच्छ्रीगोकुलनाथैर्भगवदर्थं सम्पादितेषु पदार्थेषु कदाचित्केनचित्तन्मध्यात्किञ्चित्स्वार्थमन्यार्थं वा गृहीत्वा विनियुक्तं चेत्, तदा तस्य पदार्थस्य यत्सामिभुक्तत्वमुक्तम्, तदत्र कैमुतिकादेव सिद्धं ज्ञेयम्। यत्पुनस्त एव स्वोपभोगार्थमानीतं वस्त्रादिकं कञ्चित्स्वोपयुक्तमात्रं भगवते समर्प्य तस्योपयोगं कृत्वा तदवशिष्टं चेत्समर्पयितुमिच्छति, तदपि सामिभुक्तं जातम् इति न समर्पणीयम् इति आहुः। तत्र स्वोपभोगार्थत्वाभिसन्धान

मेव दूषकताबीजम्। तादृशस्य समर्पितस्य ग्रहणे भगवद्दत्तप्रसादत्वबुद्धेः कर्तृमशक्यत्वात् गौणत्वाद्वेति मम प्रतिभाति। तथा भगवद्वस्तुबुभुक्षापराधे तु, ममायमपराधो निवर्तताम्, पुनश्च माभूदिति दीनभावनपूर्वकं भगवानेव प्रार्थनीयो, वज्रचिह्नयुक्ततच्चरणारविन्दध्यानं च कार्यम्, दैन्यस्य भगवत्तोषणहेतुत्वात्। "यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोभूत्। ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्" इति" तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलवाक्याच्च। भक्तेः पापनाशकत्वस्य पूर्वं साधितत्वेन तद्ध्यानात्मकस्मरणेपि तथात्वस्यौचित्याच्च। किञ्च। भगवच्चरणचिह्नभूताङ्कुशध्यानमपि कार्यम्। "अङ्कुशो नागशिक्षायै यावद्भवति पुत्रक। तादृशं तद्भवेच्चिह्नम्" इति पाद्मे चरणचिह्नाध्याये तादृगाकारस्य शिक्षार्थत्वाभिधानात्। पञ्चाध्याय्यां "लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजचक्राङ्कुशयवादिभि"रित्यत्र सुबोधिन्यां मनोनिग्रहार्तमङ्कुशस्थापनम् इति तत्तात्पर्यकथनाच्चेति मम प्रतिभातं प्रसङ्गादुक्तम्।

एवं दूषितसंसर्गनिषेधमुक्त्वा समर्पणादूषणप्रकारम् आहुः तस्माद् इत्यादि।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।६।।
न ग्राह्यमितिवाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

यस्मादसमर्पितसंसर्गः सामिभुक्तसमर्पणं चायुक्तम्, तस्मात्सर्वस्मिन्वैदिके स्मार्ते लौकिके च कार्ये आदौ ततः प्रागेव सर्वेषां तत्रतत्रापेक्षितानां वस्तूनां समर्पणं मतं सम्मतम् इति अर्थः।तत्प्रकारस्त्वेवं प्रतिभाति. गारुडे. "जगद्धातुर्महेशस्य दिव्याज्ञाचरणा वयम्। इह नित्यक्रियां कुर्मः स्निग्धास्ते वैष्णवाश्च ते" इति वैष्णवलक्षणवाक्यात्, एकादशस्कन्धे च "सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि विधिना नोदितानि मे. पूजान्तैः कल्पयेत्सम्यक् सङ्कल्पः कर्मपावन"

इति वाक्याच्च स्वस्य भगवदाज्ञाकारित्वं श्रौतस्मार्तकर्मणां भगवदाज्ञाप्राप्तत्वं चानुसन्धाय, विष्णुधर्मोत्तरे शङ्करगीतासु ''अपृष्ट्वा यस्तु यां काञ्चित्क्रियां नारभते हरिम्. असम्भिन्नार्यमर्यादस्तस्य तुष्यति केशव'' इति वाक्यात्स्वधर्मत्वाच्च तत्करणार्थं भगवद्विज्ञप्तिं कृत्वा तत्सम्भारान् सम्भृत्य कर्मकरणार्थं पुनराज्ञां प्रार्थ्य महापाकादेः समर्पयितुमशक्यत्वान्मनसा वाचा च समर्पणं कुर्यात्. श्राद्धाद्यर्थे स्वल्पे पाके तु प्रत्यक्षवस्तूनां सिद्धानामेव समर्पणं कुर्यात्। एवं लौकिकेपि पूर्वं कृत्वा पश्चात्तत्तत्कार्यं कुर्यात् इति. न च विज्ञापने समर्पणव्यवहाराभावान्नैवम् इति शङ्क्यम्। विज्ञापनं विशेषेण ज्ञापनमर्थस्य सम्यग्बोधनम् इति यावत्। तत्र तु प्रयोगो दृश्यते. समर्पकमिदं वाक्यम्, असमर्पकोयं शब्द इति विदुषां व्यवहारात्। एतस्य च सम्यग्बोधन एव पर्यवसानात्. एवं निवेदनपदेपि बोध्यम्. ''निवेदितोजोङ्गिरसे''त्यादौ तथा दर्शनात् इति। ननु भवत्वेवमुक्तरीत्या सर्वसमर्पणे दोषाभावः, तथापि ''भक्तिस्त्वव्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृते''त्युद्धवप्रश्ने, भगवता यदा ''मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्'' इत्यादिना, भक्तिमार्ग उपदिष्टः, तत्र ''अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्जयान्निवेदितम् इत्याज्ञप्तम्, तदकरणादाज्ञाभङ्गदोषः कथं निरसनीय इत्यतस्तदनूद्य तद्विषयव्यवस्थाम् आहुः दत्तापहारेत्यादि। दत्तस्य भगवते समर्पितस्य अपहारः, पुनर्जीवोपयोगाय ग्रहण उच्यते, निषिद्धतया कथ्यते यस्मिन्, तद्दत्तापहारवचनम्, ''अपि दीपावलोकम्'' इत्यादिजातीयकं वाक्यं भक्तिमार्गोपदेशे वर्तत इति शेषः। तथा च हरेः सम्बन्धिसकलं सर्वं समर्प्यापि न ग्राह्यम् इत्येवमर्थकं **भिन्नमार्गपरं** विवक्षितभक्तिमार्गादन्यमार्गविषयं मतं विचारितम्.

अयमर्थः। इदं हि वाक्यमेकादशाध्याये भगवति निश्चलमनोधारणाशक्तौ ''यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् इत्यादिना तदनुकल्पकथने या भक्तिरुपासनशेषत्वेनोक्ता,तत्प्रकारउद्धवेनपृष्टे, ''मल्लिङ्गमद्भक्तजने'' त्याद्यष्टभिस्तन्मार्ग उपदिष्टस्तेषु वर्तते. तत्र च यथा स्वलिङ्गदर्शनादयो धर्माः पृथगुक्ताः तथा वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षापि पृथगुक्ता, सा नास्मिन्मार्गे, भक्तिमार्गीयोपदेशस्यात्र विवक्षितत्वात्। तथा दास्येनात्मनिवेदनमपि तथोक्तम्, तदपि नात्र पृथग्धर्मत्वेन। अधिकाररूपतया तस्यात्र पूर्वं विवक्षितत्वात्. तथाग्रे ''सूर्योग्निर्ब्राह्मणागाव'' इत्यादिना। पूजास्थानान्येकादश निर्दिष्टानि. समाप्तौ च ''इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः। लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवये''ति तथा कृतौ भक्तिलाभः, तया स्वस्मृतिः फलत्वेनोक्ता. विवक्षितो मार्गस्तु ''अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखे''ति सुगोप्यकथनं प्रतिज्ञाय, ततो द्वादशाध्याये तां भक्तिमुक्त्वा, ततोग्रे षडध्याय्या अन्यदपि तत्प्रश्नानुसारेणोक्त्वा, पश्चादूनविंशे ''आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते'', ''त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम्'' इति महदभिलषितभक्तिप्रश्ने पुनस्तेन कृते, भगवता ''भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय ते अनघ. पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्'' इति द्वादशाध्यायोक्तां भक्तिं परामृश्य, तत्परमकारणत्वेन कथितार्थपुनरावृत्तिं प्रतिज्ञाय, ''श्रद्धामृतकथायां मे'' इत्यादिभिश्चतुर्भिरुक्त्वा, ''एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्म

निवेदिनाम्. मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोस्यावशिष्यत'' इति पञ्चमे पूर्वोक्तभक्तिप्राप्त्या पुरुषार्थसमाप्तिमुक्त्वा, समाप्यते। अतोधिकार भेदात्साधनभेदात्फलभेदाच्च भक्तिमार्गयोर्भेदे सिद्धे दत्तापहारबोधकं वाक्यं यत्रोक्तम्, तत्तज्जातीयपरमेव, नैतन्मार्गपरम्, अतो नात्र समर्पितस्य पुनः समर्प्यग्रहणे आज्ञाभङ्गदोषो वाक्यविरोधो वेति बोध्यम्।

ननु भवत्वेवं वाक्यविरोधपरिहारादिकम्, तथापि सर्वकार्यादौ सर्ववस्तुसमर्पणमसमर्पितवस्तूनां वर्जनाचरणं च यदुक्तम्, तदशक्योपदेशरूपम्। न हि सर्वाणि कार्याणि पूर्वं ज्ञातुं शक्यन्ते. ज्वरादिपथ्यत्वेन वैद्यैस्तदानीं देयत्वेनोक्तस्य पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वात्। तथा केनचिदाप्तेन सम्बन्धिना वा शिष्येण वा इभ्येन वा सविनयं बलादिना वा स्वगृहे भोजने वस्त्रालङ्कारादेर्वा दाने तत्र तत्कर्तुमशक्यत्वेन असमर्पितवर्जनस्य कर्तुमशक्यत्वात्।

तथा सति कथं तत्र स्वधर्मनिर्वाह इत्यत आहुः **सेवकानाम् इत्यादि**।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति।।७।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

सेवन्ते ये ते सेवकाः सेवाकर्तार इति यावत्। यथा लोके तेषां व्यवहारः प्रसिद्धोस्ति तथा समर्प्यैव कार्यम्. निष्कपटसेवकाः स्वगुरुं वा स्वप्रभुं वा कार्यात् पूर्वं पश्चाद्वा क्वचित्कालद्वयेपि वा विज्ञापयन्ति इति तथा समर्प्य व्यवहारणीयम्। विज्ञापनेपि समर्पणपदप्रयोगस्य साधितत्वात्। किञ्च। गुणसन्निपातरूपो मनोमात्रेन्द्रियासुव्यापारो हि व्यवहारः। स यथा सेवकानां प्रसिध्यति सम्पद्यते तथा समर्प्यैव कार्यम्. ''उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यते। अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुन''रिति वाक्यात्कामः प्रतिवदितुमशक्यः। तथा च स्वस्य किञ्चिद्वस्तुबुभुक्षोत्पत्तौ प्रभवे विज्ञाप्य, तत्कृत्वा समर्प्य, पश्चाद्भोक्तव्यम्. ''यद्यदिष्टतमं लोके यच्चापि प्रियमात्मनः. तत्तन्निवेदयेन् मह्यं तदानन्त्याय कल्पत'' इत्येकादशस्कन्धे सदादृतभक्तिकथने भगवद्वाक्यात्। एवं स्वाशक्त्या सर्वपाककरणाशक्तौ स्वार्थं जातिकुलमर्यादानिर्वाहाय तावन्मात्रपाकं कृत्वा समर्पणेपि न दोषः। लोकव्यवहारस्य तथैव सिद्धेः। एतावान्परं विशेषो यदूनविंशाध्याये भक्तिपरमकारणत्वेनात्मनिवेदिनां ये धर्मा उक्ताः ''श्रद्धामृतकथायां म'' इत्यादिना सार्धैश्चतुर्भिः, तत्र सर्वकामविवर्जनस्य भगवदर्थे तद्विरोधिनामर्थभोगसुखानां परित्यागस्य च कथनात्तद्विरुद्धमिदं मुख्यसाधनकक्षां नारोहपि, तस्मादेवं कुर्वता ''जुषमाणश्च तान्कामा''निति न्यायेन ग्लानिः स्थाप्या, ''अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरि''रिति च भावनीयम्. अङ्कुशवज्रयुक्तं चरणं च ध्यातव्यम्। येनायं मनोदोषः सः शीघ्रं निवर्तत इति प्रसङ्गादुक्तम्. न च समानकर्तृकयोः क्रिययोः पूर्वकाले क्त्वानुशासनादत्र समर्प्येति प्रयोगेण कार्यात्पूर्वकालिकत्वं समर्पणस्य लभ्यत इति कथं पश्चाद्वेत्युच्यत इति शङ्क्यम्। अत्र सेवकीयलोकव्यवहारवद्भगवत्सेवकव्यवहारसिद्ध्यर्थं तथाकरणस्य विधेयत्वेन समर्प्यैत्यस्य कार्यविशेषणतामात्रे तात्पर्येण अनूदिततया कालबोधने तात्पर्याभावात्। अन्यथा सर्वादौ समर्पणवाक्येनैव सर्वकाय-

पूर्वकाले समर्पणस्य प्राप्तत्वेन तदनुवादवैयर्थ्यप्रसङ्गात् इति. अतो न कश्चिद्दोषः। एवं सर्वदोषनिवृत्तिस्वरूपं पुनस्तदुत्पत्त्युपायं पाश्चात्यसमर्पणक्रियादोषराहित्यप्रकारं विरुद्धवाक्यव्यवस्थाया आज्ञानिर्वाहप्रकारं व्यवहारानुरोधेपि दोषासम्भवप्रकारं चोपदिश्य तत्फलम् आहुः सर्वेषां ब्रह्मता तत इति। तच्छब्दः पूर्वोक्तं साधनसमूहं परामृशति. तथा च तत उक्तरीत्या ब्रह्मसम्बन्धमारभ्य साधनकरणात्सर्वेषामात्मनिवेदिनां ब्रह्मता दोषराहित्यं सर्वत्र साम्यं च भवति। ''निर्दोषं हि समं ब्रह्मे''ति ब्रह्मणस्तादृशत्वात् तदाज्ञायामप्रमादात्तथा भवति इति कलिप्रभृतिदोषाणां तेष्वभावात्तत्कृतसेवायाः प्रभुणाङ्गीकारे सुखेन खलवत्त्वम् इति अर्थः।।७ १/२।।

एवं सर्वदोषनिवृत्त्युपायमुपदिश्य, दोषाणां स्वरूपतो विद्यमानत्वे तेषां सेवायामप्रतिबन्धकत्वं न सम्यगवगन्तुं शक्यम् तथा सत्यविश्वासे संशये वा जघन्याधिकारिणां पुनः सर्वनाशापत्तिरिति तन्निवारणार्थं सिंहावलोकनेन पूर्वं परामृशन्तो दृष्टान्तमुखेन तद्दोषनिवृत्त्यवगमोपायम् आहुः गङ्गात्वम् इत्यादि।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ १/२।।

अत्राग्रे दार्ष्टान्तिकवाक्ये तद्वद् इति पदात्पूर्वस्मिन् वाक्ये यद्वद् इति यथेति वाध्याहारः। तथा च गङ्गामिलितानां सर्वदोषाणां रथ्योदकादीनां यथा गङ्गात्वम्, गङ्गायाभूयस्त्वात्. यथा च गङ्गात्वे तदितरगुणदोषयोर्मूढ्विशेषस्य च वर्णना न निरूप्या, सर्वेपि हि गङ्गाजलं पीतम्, गङ्गायां स्नातम्, तेन ममायं ज्वरादिर्निवृत्त इत्येव वदन्ति, ज्वराद्यभावं चानुभवन्ति, न तु रथ्योदकादिपानस्नानगुणदोषान्. हि निश्चयेन. अत्रापि ब्रह्मसम्बन्धकरणेपि उक्तरीत्या भगवदीयत्वस्य, चकाराद्भगवदनुसन्धानादेश्च बाहुल्यात् तद्वदेव गङ्गासम्पृक्तसर्वदोषवदेव पूर्वोक्तपञ्चविधदोषवर्णना न निरूप्या स्यात्. तथा चैवं तेषां स्वरूपतो विद्यमानत्वे ज्ञायमानत्वे अज्ञायमानत्वे वा गङ्गायां तेषामिवैतेषामपि दोषाणां स्वरूपनाश एवेति जघन्याधिकारिभिरप्येवमवगत्य स्वात्मा संरक्षणीयः. श्रुतौ सूत्रेषु च तत्क्रतुन्यायस्य सिद्धत्वात् सर्वदा सर्वत्र भगवदीयत्वानुसन्धानेन भगवदीयत्वस्यैव सिद्धेरित्यर्थः। इदमत्र प्राचामनुसारेण व्याख्यातम्।

मम त्वन्यदपि किञ्चिदत्र प्रतिभाति. यदि ह्येतावन्मात्रमेवात्राभिप्रेतं स्यात्, तदा ''न मन्तव्याः कथञ्चने''त्येतदुक्त्वा 'गङ्गात्वम्' इत्यादि वदेयुः. तत्रानुक्तवा ''सर्वेषां ब्रह्मता तत'' इति फलकथनोत्तरं यदुक्तम्, तेन फलबोधकताप्यभिप्रेतेति। तथा चात्र पूर्वं ब्रह्मसम्बन्धेन दोषनिवृत्तिमुक्तवा, अग्रे भाविदोषासंसर्गार्थं यत्समर्पणं भगवद्धर्मानुरोधिलौकिकव्यवहारानुरोधिभेदेन द्विविधमुक्तम्, तत्राद्यकरणे ब्रह्मतारूपं फलम्, द्वितीयकरणे तु गङ्गासम्पृक्तदोषाणामिवैतद्दोषाणां निवृत्तिमात्रम्। तेन सेवाफलग्रन्थोक्तमध्यम-

जघन्यफलोपयोगि सेवोपकारकत्वं क्रमेण सिध्यति इति। तेन मार्गान्तरे या दोषनिवृत्तिः साधनान्तरमपेक्षते, सात्र सेवाधिकारसम्पादकसंस्कारस्यानुषङ्गिकं फलम् इत्यतो अस्य सिद्धान्तरहस्यत्वम् इति च.

एवं प्रभुप्रेरणया विभातं यन्मे तदुक्तं नहि तत्स्वबुद्धया।
अतः स्वदासे करुणां वितन्वन् स एव मत्स्वान्तमलङ्करोतु।।१।।
यदत्र सदसद्वापि जीवबुद्धयोदितं क्वचित्।
क्षमन्त्वाचार्यचरणास्तं मे मन्तुं कृपालवः।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचितं सिद्धान्तरहस्यविवरणं सम्पूर्णम्।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेतम्।

स्वीयजीवानुद्दिदधीर्षुः स्वयमाज्ञापयद्धरिः।
साक्षाद्यं तमहं वन्दे श्रीवल्लभविभुं सदा।।१।।
तदाज्ञानन्तरं श्रीमदाचार्यैर्यन्निरूपितम्।
तद्वचोविवृतिं कर्तुमारभे तत्प्रसादतः।।२।।

अथ श्रीमद्वृन्दावनचन्द्रः स्वस्य रासादिक्रीडारूपमत्यलौकिकमनुभावं प्रकटयितुमिच्छन् स्वमुखारविन्दाधिष्ठात्रलौकिकाग्निं स्वलीलाक्रान्तसव श्रीवल्लभाचार्यरूपेण प्रकटी कृत्य स्वाभिलषितशुद्धपुष्टिमार्गं प्रकटयितुमाज्ञामदात्, ततस्तदाज्ञाया एवार्थं निरूपयन्तः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः पद्यबन्धेन तमर्थं सपूर्वपीठिकं निरूपयितुं प्रतिजानते श्रावणस्यामले पक्ष इति।

श्रावणस्यामले पक्ष एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

श्रवणर्क्षस्य विष्णुदैवत्येन तदुपलक्षितमासस्यापि तथात्वमेवास्ति इति स्वयमपि सर्वोत्तमं वैष्णवमार्गमेव प्रकटयितुमुद्यत इति च विचिन्त्य तद्देवताक एव मासे भगवानाचार्यानाज्ञापयत् इति तस्यैव ग्रहणम्। तस्यामले मलरहिते सर्वदोषविवर्जिते **पक्षे** शुक्लपक्ष इति यावत्, तस्मिन्। **एकादश्यां** विष्णुदैवत्यामेव तिथौ। **महानिशि** अर्धरात्रे पुष्टिमार्गोपदेशान्मर्यादाविरुद्धे स्वभक्तैः सह निःशङ्कतया यो निरवध्यानन्दानुभवस्तदाधारभूते पुष्टिरूपे समये। तदा तादृग्भूतेनैव **भगवता** साक्षादव्यवधानेन। अथवा। साक्षाद्भगवान्निरावरणपूर्णपुरुषोत्तमस्तेन। प्रकर्षेण परमकृपापूर्वकं यदुक्तं तदक्षरशः प्रत्यक्षरा

र्थपूर्वकमुच्यत इति अर्थः। किञ्च। अत्र श्रावणमासोक्त्या ऋतुरपि वर्षाख्य उक्तो भवति।तस्यायमाशयः।वर्षर्तोः सर्वरसोत्पादकत्वान्निदाघतप्तस्थिरचरतापापहारकत्वादिधर्मवत्त्वादत्रोपदिष्टमार्गस्यापि भगवत्सम्बन्धिसर्वरसोत्पादकत्वं सर्वतापापहारकत्वादिकत्वं च सूचितं भवति इति।।१।।

एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा भगवदुक्तपदार्थम् आहुः **ब्रह्मेति**।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृता।।२।।

अस्मिन्मार्गे यशोदोत्सङ्गलालितश्रीकृष्णस्यैवोपास्यत्वात् तस्य चाज्ञलोके अवतारमात्रभ्रमत्वादत्र तद्व्यावृत्त्यर्तं ब्रह्मपदोपादानम्। अथवा। भगवद्वाक्यार्थकथनाद्वेदे इवात्रापि ब्रह्मपदम्। तथा च तेन ब्रह्मणा सह देहजीवयोर्यः **सम्बन्धः** स्वमार्गीयनिवेदनेन तदीयत्वसम्पादनलक्षणस्तत्करणात्सर्वेषां दैवजीवमात्राणां **सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति।** सर्वपदेन देहजीवयो**स्तद्धर्माणां** तत्र तत्सम्बन्धिनां च सर्वेषां सम्बन्धिनां यावन्तो दोषास्तेषां सर्वेषां निवृत्तिर्भवति। लापनिका तु, देहजीवयोर्ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां तद्धर्माणां तत्सम्बन्धिनां च सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति। यद्वा। सर्वेषामैहिकामुष्मिकपदार्थमात्राणां देहजीवयोश्च तत्सम्बन्धे सत्येतत्सर्वगतसर्वदोषनिवृत्तिर्भवति। शेषमुभयत्रापि पूर्ववत्। हि इति युक्तोयमर्थः। यद्भगवत्सम्बन्ध एव सति सर्वेषां सर्वदोषनिवृत्तिर्भवति, नान्यथापि इति। ननु अत्र निवेदनशब्दवाच्या किंरूपा भक्तिरुच्यते, दानापरपर्याया वा, काचिदन्यैव वा। तत्र नाद्या, ''विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्'' इत्यादिवचनविरोधात्। नह्येकस्मै देवाय दत्तं वस्तु पुनः तदेवान्यस्मै दातुं शक्यमुचितं वा, तत्र स्वीयत्वाभावात्। स्वीयवस्तुन एव हि दानार्हत्वात्। न द्वितीयः। मानाभावात्। नहि पूर्वोक्तान्निवेदनरूपाद्भिन्नं रूपं कुत्रापि प्रमाणसिद्धमस्ति। अतो विचार्यमाणे तदीयत्वसम्पादनरूपैव सेति पर्यवस्यति। किञ्च। त्वयापि ''यश्चात्मानं निवेदयेत्'' इत्यादिस्थलेष्वयमेवार्थोस्य शब्दस्य वक्तव्यः, अर्थान्तरकल्पनाया अनिर्वाहात्। एवं च सति निवेदनाख्यभक्त्या स्वात्मादिसकलपदार्थमात्रस्य भगवदीयत्वसम्पत्तिर्भवति इति निःप्रत्यूहमवेहि। अथ निवेदनस्या वश्यकर्तव्यताकत्वमुक्तमेकादशे। ''दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्। एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत'' इति। इयं तु भक्तिः प्रेमलक्षणा फलरूपेति बोध्यम्। अन्यच्च तत्रैव। ''मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तधर्मा निवेदितात्मा विचिकित्सितो मे। तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै'' इत्यादिभिः। किञ्च। भगवद्भक्तेर्बहुविधत्वेपि श्रवणादिनवविधाया एव मुख्यत्वेन प्रेमलक्षणासाधनत्वेन सर्वत्र प्रसिद्धेर्निवेदनाकरणे तस्या नवविधत्वाभावादपूर्णसाधनरूपायास्तस्या न पूर्णफलजनकत्वं भवति इति तत्करणस्यावश्यकत्वम्। अत एव श्रीमत्प्रभुचरणैरप्युक्तं **नवरत्नप्रकाशे** ''आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतर'' इति। ननु देहादीनां समर्पणं तेन च शुद्धिरित्यस्तु नाम, युक्ति-

सहत्वात्। किन्तु जीवात्मादिसमर्पणं, तत्रापि स्वस्यैव समर्पकत्वं, तेन च शुद्धिरिति कथमुपपत्तिप्रमाणाभ्यामुपपद्यत इति चेत्, तत्र वदामः। इत्थम्। यथा वेदोक्तमर्यादामार्गेपि कर्मकाण्डे विरजाहोमे ''जीवात्मा मे विशुद्ध्यन्ताम्। परमात्मा मे शुद्ध्यन्ताम्'' इत्यादिभिर्जीवात्मादीनां शोधनम्, तत्रापि स्वस्यैव कर्तृत्वम्, तेन च शुद्धिरपि भवति इत्यादि विधीयते। ज्ञानकाण्डे तु पुनर्महावाक्येन जीवस्य ब्रह्मैक्यबोधनं तेन च तस्य तदुपपत्तिरित्यपि तैरुच्यते। तथैवास्मिन्नपि मार्गे। तथाहि ''तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे''त्यादिवाक्यैर्भगवदीयानामितरशोधनप्रकारनिषेधा''द्यथा यथात्मा परिमृज्यते असौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः। तथा-तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्''इत्यादिभिर्भक्तेर्नवविधायाः शोधकत्वेनोक्तत्वाच्चायमेवात्र शोधनप्रकार इति तथैवात्र निरूपितम् इति सर्वमवदातम्। एवं च सति देहजीवयोरित्यत्र जीवपदेनात्मत्वा विशेषात्परमात्मादयोपि सङ्गृह्यन्ते। अतस्तेषामपि समर्पणं भवत्येवेति युक्तमेव। यतः पुरुषोत्तमस्तु लोकवेदातीतः सर्वेश्वरः सर्वोपास्यः सर्वपरश्च। जीवास्तदनतीता अनीश्वरा उपासका अवराश्चेति तस्मिन्नेतेषां समर्पणं युक्तमेवेति सारम्। अथ तत्र दोषाः कियत्प्रकारास्सन्ति इति आकाङ्क्षायाम् आहुः दोषाः पञ्चविधा इति। पञ्चप्रकारका दोषाः स्मृताः श्रुतिस्मृत्यादिषु कथिता इति अर्थः। पाठान्तरे मताः सम्मताः।

तानेव पञ्चविधान् गणयन्ति सहजा इति।
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन।।३।।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।

तत्र देहस्य सहजदोषाः कुण्डगोलकत्वादयः। म्लेच्छत्वचाण्डालत्वादयश्च। जीवस्य तु ''जीवाः स्वभावतो दुष्टा'' इति वचनात्तदीयः सहजः स्वभावः स्वतःसिद्धभगवद्वियोगजनितार्त्यादिभगवदानन्दतिरोभावत्वरूपः। यतः श्रुतिस्मृत्यादिषु सर्वोपास्यत्वादिधर्मवत्त्वेन श्रुतस्यापि भगवतो भजनदर्शनादावार्त्याद्यभावः सहजो दोष एव भवति। अथवा। आसुरावेशित्वादिकं च जीवस्य सहजो दोषः इत्यादिमाः। द्वितीयान् आहुः **देशकालोत्था** सति। **देशो** मघधम्लेच्छादिः, तदुत्थाः, कालः कल्पादिरूपस्तदुत्थाः। देशकालयोः प्रायो बहुस्थले सहभावो दृश्यत इत्यनयोरेकरूपता। द्वितीयप्रकारादारभ्य सर्वे दोषाः देहग्रहणानन्तरमेवोत्पद्यन्त इति ते देहजीवयोः समा एवेति न पृथगुच्यन्ते। तृतीयान् आहुः लोकवेदनिरूपिता इति। लोके परजातीयसिद्धान्नभक्षणादिर्दोषत्वेनोच्यते, न परमार्थतः। एवंविधा लोकनिरूपिताः। अथवा। स्मृत्याद्युक्ताः लोकनिरूपिताः। वेदनिरूपिताः असंस्कृतत्वादयः, आश्रमभ्रष्टत्वादयश्च। अत एवानयोरेकप्रकारता। स्मृत्यादीनामपि वेदमूलकत्वात्। तुरीयान् आहुः संयोगजा इति। संयोगः पतितादिसंसर्गः, नीचसेवकादिकं च। तज्जाः। पञ्चमान् आहुः स्पर्शजाश्चेति। स्पर्शजा वातव्याधित्वादयः। अगम्यास्पर्शादयश्च।

चकारात् कर्मजा अपि कुष्ठापस्मारादयः। कामक्रोधादयो वा। अथवा। लोकवेदनिरूपिता इति उक्तपञ्चविधानामपि विशेषणम्। पदार्थमात्रस्य लोकवेदनिरूपितत्वात्तद्योगात्। तदा पञ्चमप्रकारकाश्चकारोक्तकर्मजादयः, शेषं प्राग्वत्। एते पञ्चविधा अपि दोषाः पूर्वं तेषु-तेषु विद्यमाना अपि निवेदनसमये तदनन्तरं च दैवात् कदाचित्तिष्ठेयुरपि चेत्तथापि कथञ्चन केनापि प्रकारेण न मन्तव्या न विचारणीया इति अर्थः। ननु निवेदनकरणमात्रेण सहसैव सर्वदोषनिवृत्तिः कथं भवति? अथ दृश्यते च न तन्निवृत्तिरिति चेत्, मैवम्। मूल एव न मन्तव्या इति उक्तत्वात्। स्थिता अपि दोषा दोषत्वेन न गणनीया इति अभिप्रायेण। एतत्त्वग्रे स्वयमेव विशदयिष्यन्ति गङ्गादृष्टान्तेन। अत्रेदमेव शुद्धिस्वरूपम् इति सर्वं सुस्थम्। अत एव ''अपि चेत् सुदुराचारः'' ''बाध्यमानोपि मद्भक्तः'' ''मां हि पार्थ व्यपाश्रित्ये''त्यादि भगवतोक्तम्। 'किरातहूणान्ध्रे'त्यादि शुकेन। अन्यैरप्यन्यत्र बहुशः। ननु प्रायश्चित्तादिना पूर्वं तान्निवर्त्य पश्चाद्भगवत्सम्बन्धः कुतो न कार्य इति चेत्, तत्र आहुः। अन्यथेत्यादि। अन्यथा भगवत्सम्बन्धव्यतिरेकेण सर्वप्रकारकाणां दोषाणां कथञ्चन प्रायश्चित्तादिनापि निवृत्तिर्नैव भवति। एतदेवोक्तं षष्ठे। ''न तथा ह्यघवान् राजन् पूयते तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवये''त्यादिभिः।

ननु स्वस्य निवेदनकरणानन्तरं स्वात्मना सह ये कलत्रपुत्रादयो निवेदिताः, तेषां पुनः पृथक्-पृथक् निवेदनं करणीयं न वेत्याशङ्कायां समाधानं निवेदनान्तरं तस्य स्थितिप्रकारं, प्रसङ्गात् प्राप्तं स्वरूपसेवादिकरणं चेति त्रयमप्य आहुः असमर्पितवस्तूनाम् इति।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।
निवेदिभिः समप्यैंव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।

न समर्पितं वस्तु यैस्ते असमर्पितवस्तवः तेषां वर्जनमाचरेत्। अत्रायमाशयः। यस्मात्स्वात्मना सह कलत्रादीनां निवेदने जातेपि ''सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकम्'' इति वाक्यात्तेषामपि भगवत्सम्बन्धे पूर्वसिद्धेपि त एव निवेदिता जाताः, परं न तेषां सम्बन्धिवस्त्वादिकम्, तत्त्वनिवेदितस्थितम् इति ते असमर्पितवस्तवो जाताः। अतस्ते वर्जनीयाः। तादृशास्ते न स्थापनीयाः। किन्तु पृथक्-पृथक् तेषां निवेदनं करणीयम्, यथा तेपि समर्पितवस्तवो भवन्ति इति अर्थः। यद्वा। यस्माद्भगवत्सम्बन्ध एव सति सर्वेषां सर्वदोषनिवृत्तिरतो असमर्पितवस्तूनामनिवेदितात्मनामत एव सदोषाणां तेषां वर्जनं तत्सङ्गादिवर्जनमाचरेत्। तादृशां सङ्गादिकं न कुर्यात्। एतदेवोक्तं नवरत्ने। ''निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनै''रिति। द्वितीयमर्थम् आहुः असमर्पितेति। यस्मादुपायान्तरैर्न तन्निवृत्तिः, प्रत्युत स्वधर्महानिश्च, तस्मात् सर्वदोषनिवृत्यर्थं स्वधर्मसिद्ध्यर्थं भक्तेः परमकाष्ठापन्नदशाप्राप्त्यर्थं च भगवदसमर्पितवस्तुमात्रस्य स्वस्मिन् लौकिकवैदिकस्वकार्यमात्रे च विनियोगो न कार्यः, किन्तु समर्पितस्यैव वस्तुन इति अर्थः। एतेन निवेदनानन्तरं तस्य भगवत्स्वरूपसेवापि कर्तव्यत्वेन सर्वथा प्राप्ता। अन्यथा प्रतिक्षणं तत्तद्वस्तुसमर्पणा सम्भवति। तृतीयः।

समर्पितकलत्रादिविनियोगे समर्पितवस्तुमात्रविनियोगे च निषेधमुक्त्वा समर्पितस्यैव ग्रहणं वदन्तस्तसमर्पणे प्रकारमप्यापातत आहुः निवेदिभिरिति। सहेति शेषः। तथाच सद्यःकृतात्मनिवेदनः निवेदिभिः सह चिरात्कृतात्मनिवेदनैः सदभ्यस्तसकलसेवाप्रकारैः सह मिलित्वा तदुक्ततद्दर्शितप्रकारेण समप्यैंव भगवति निवेद्यैव पश्चात् सर्वं कलत्रादीनां भगवत्सेवादिविनियोगरूपं स्वार्थं च वस्तु विनियोगरूपं अन्यदपि लौकिकं वैदिकं च विवाहयागादिरूपं कार्यमात्रं कुर्यात्। इति स्थितिर्मार्गमर्यादा स्थितिपदेनेयमेव निश्चला भक्तिमार्गमर्यादा, नान्यापि इति ज्ञाप्यते। किञ्च। निवदिभिः सहेतिपदं सर्वं कुर्यात् इति अनेनापि लापनीयम्। तथा च पूर्ववस्तुनो भगवति समर्पणे पश्चात्स्वविनियोगसमयेपि तैः सहभावः कार्य इति अर्थः। एतेन सत्सङ्गदुःसङ्गयोर्विधिनिषेधौ च तस्योक्तौ भवतः।

अथ विस्तीर्णवस्त्रादिके तन्मध्यात् पूर्वं स्वार्थे स्थापयित्वा तदुर्वरितं किञ्चित् स्वल्पे स्वरूपे तावदेवापेक्षितमिति मत्वा तत्समर्पयितुमिच्छेन्नेत्याहुः न मतमिति।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।।५।।
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।

देवानामपि देवस्य सर्वनियामकस्य सर्वोपास्यस्य सामिभुक्तसमर्पणं स्वेनान्यैर्वा यद्वस्तुमध्यात् पूर्वमुपभुक्तं भवति तदुर्वरितं वस्तु पश्चाद्भगवति निवेदयितुमिच्छेच्चेत्, तद्भगवतो मतं सम्मतं सिद्धान्तो वा न भवति इति अर्थः। एवमन्नादिसर्वपदार्थेषु व्यवहर्तव्यम्। पुनरिममेवार्थं स्थूणाखननन्यायेन द्रढयन्त आहुः तस्मात् इति। यस्मात्कारणात् प्रकारान्तरेण व्यवहारे कृते, प्राक्कृतदोषाणामनिवृत्तिः, नूतनानां प्रत्युत प्रवृत्तिः, स्वधर्महानिश्च, तस्मादादावेव सर्वकार्येषु तत्तत्कार्यं कर्तुमिच्छन् तत्तदुपयुक्तसर्ववस्तुनः समर्पणं कुर्यात्। एवं च सति नित्यनैमित्तिककार्यमात्रोपयुक्तवस्तुमात्रस्य पूर्वं यथायोग्यप्रकारेण भगवति विनियोगे जाते पश्चात्तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वव्यहारोपयोगः कर्तव्य इति सिद्धम्।

ननु ''अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्'' इति भगवतैवोक्तत्वात् तन्निवेदनानन्तरं तदेव वस्तु स्वयमुपभुञ्जीतेति कथमुच्येतेति चेत् अत्र आहुः दत्तापहारवचनम् इति।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।६।।
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

अत्र वचनं वाक्यम् इति स्थलद्वयेप्येकवचनं जात्यभिप्रायेण। तत्र दत्तापहारवचनानि ''त्वयि दीपावलोकं म'' इत्यादीनी। तथाचान्यान्यपि सकलं वस्त्रमाल्यादिकं हरेः हरिसम्बन्धि हरये यन्निवेदितं तत्तदनन्तरं न ग्राह्यं, स्वयं न गृह्णीयादेवम्बोधकानि अनिवेदितश्राद्धादिबोधकानि च यानि वाक्यानि तानि सर्वाणि भिन्नमार्गपराणि वैधभक्तिमार्गपराणि। पूजाख्यं कर्म तच्छेषतया या भक्तिस्तत्पराणि, न शुद्धभक्तिमार्गपराणि। अत एवंबोधकं वाक्यसहस्रं भिन्नमार्गपरं मतं सम्मतम्। तत्र पूजायाः कर्मत्वमुक्तमेकादशे ''कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः। विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम्''

इति जनकेन पुष्ट आविर्होत्र उवाच। ''कर्माकर्मविकर्मे''त्यारभ्याग्रे ''य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः। विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्'' इत्यादिप्रश्नोत्तरैः। अतस्तानि वाक्यानि तादृग्भक्तिपराणि इत्यत्रानवकाशपराहतानि इति सर्वथा नोपक्षेपणीयानि इति अर्थः। अन्यथा ''त्वयोपभुक्तस्रगन्ध'', ''अम्बरीष नवं वस्त्रम्'', ''विष्णोर्निवेदितान्नेन'', ''मुकुन्दाशनशेषं तु'' इत्यादिवाक्यसहस्राण्यगतिकानि भवेयुः। चिरात् प्रदृश्यमाणप्रागाचार्यचरणपरम्परा अप्यप्रामाणिक्य एव च तिष्ठेरन्। ननु पूर्वोक्तमार्गेषु सङ्कल्पपूर्वकं वैधप्रकारेण निवेद्यत इति भक्तिमार्गे तन्निषेधो युक्त एव।

अथैतन्मार्गीयैः केन प्रकारेण भगवद्वस्तुसमर्पणं कार्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः सेवकानाम् इति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति।।७।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

लोके स्वस्मिन् सेवकानां व्यवहारः यथा प्रकर्षेण सिध्यति तथा तेन प्रकारेण सर्वं समर्प्य सर्वं कार्यमात्रं कार्यं कर्तव्यम् इति अर्थः। स व्यवहारो यथा सेवकैस्तु स्वप्रभोरग्रे सेवकभावेनैव सर्वं वस्तुसमर्पणं क्रियते, तथैव स्थीयते च, एवं व्यवहारो लोके प्रसिद्धो भवति। अयं भगवदग्रे सेवकभावेन सर्वं वस्तु समर्प्य तथैव च तिष्ठति इति भगवानप्येनं सेवकत्वेनैव मनुते अगृह्णाति च। एवंप्रकारकं ज्ञानं यथा सर्वलोकानां भवति तथा सर्वसमर्पणं कार्यं तथैव स्थेयं च। अत्राप्ययमाशयः। यथा सेवको गृहदासस्तेन स्वीयं वस्तुमात्रं पूर्वमेव स्वप्रभवे सर्वथा निवेद्यते, पश्चात् प्रभुणा स्वप्रसादत्वेन यद्दीयते तेनैव स्वोपभोगः सर्वोपि क्रियत इति सर्वदा सर्वत्र दृश्यते श्रूयते च, तथैवानेनापि भगवदग्रे व्यवहर्तव्यम् इति दिक्। समर्पणग्रहणे प्रमाणवाक्यानि तु 'त्वयोपभुक्ते'त्यादीनि पूर्वमेवोक्तानि। ननु भगवान् पुरुषोत्तमत्वादलौकिक इति तस्मिन् सेवादिकरणमप्यलौकिकप्रकारेणैवोचि

तम् इति स्मृतिपुराणाद्युपदिष्टं सेवाप्रकारमनुक्त्वा लोकरीत्या सेवाकरणोपदेशे को हेतुरिति चेत्। न। अत्रोच्यते। स्मृत्याद्युक्तप्रकारास्तु विधिबोधिता इति तदधीनत्वात् तदधीनस्वरूपपर्यवसायिन एव। अस्मिन् मार्गे तु पुरुषोत्तम एव भजनीय इति। तस्य च ''न रोधयति मां योगो'', ''नाहं वेदै''रित्यादिभिर्विध्यनधीनत्वादत्र वैधप्रकाराणामकिञ्चित्करत्वेन लोकसिद्ध एव सः प्रदर्शित इति अवधेयम्। तर्ह्यस्यापि मार्गस्य लौकिकत्वं भवति इति चेत्। न। ''लोकवल्लीलाकैवल्यम्'' इति उक्तेर्लोकवदृश्यमानापि सा भगवदीयकृतसेवा वस्तुसमर्पणादिरूपा भगवत्कृततत्स्वीकारतद्भक्ताङ्गीकारादिरूपा चालौकिक्येव। यद्यपि ''न रोधयति माम्'' इत्यादिभिर्भगवतो विध्यनधीनत्वमात्रं तूक्तमेव, तथापि तादृशसेवाप्रकारो नोक्त इति स प्रकारोत्र प्रदर्शितः। तर्ह्यस्य प्रकारस्यैव स्मृत्याद्यनुक्तत्वादमूलकत्वम् इति चेत्। न। ''यद्वृत्त्या तुष्यते हरि''रिति शूद्रवृत्तेरेव भगवत्तोषहेतुत्वमुक्तम्। यतः सा तु न वैधा, मन्त्राद्यधीना वा, तेषां तत्र नाधिकारात्। अत एतत्सर्वं विचार्यैवाचार्यैर्लोककृतसेवादृष्टान्त उक्त इति सर्वमवदातम्। ननु एवं कृतेग्रे तस्य किं फलं भवति इति आकाङ्क्षायाम् आहुः सर्वेषाम् इति।

ततस्तदनन्तरं पूर्वस्मिन् स्थितानां गुणानां दोषाणां च ब्रह्मता। भगवदीयत्वेन भगवद्रूपतैव भवति। भगवदीयानां भगवद्रूपता तु भगवतैवोक्ता ''ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'', ''नोद्धवोण्वपि मन्न्यून'' इत्यादि। तथात्वे जाते न तेषु पुनर्दोषत्वं, कदाचिदपि न तिष्ठति इति भावः। यथा कामादयो भगवति निवेदिताश्चेत्तदीया भूत्वा न पुनर्दोषत्वाय कल्पन्ते, किन्तु प्रत्युत सर्वलौकिकफलसाधकत्वायैवेति दिक्। तदुक्तम्। ''न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते'' ''कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वे''त्यादिभिः।

ननु तथापि दोषाणां ब्रह्मरूपता प्रत्यक्षतया कुत्रापि दृष्टा नेति प्रत्यक्षवादिनां बहिर्मुखानां शङ्कां परिहरन्तो गङ्गादृष्टान्तेन तमेवार्थं प्रत्यक्षं दर्शयन्त आहुः **गङ्गात्वम्** इति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ १/२।।

यथा प्रणालादिकुत्सितस्थानेभ्यो गङ्गायां समागतानां जलानां तद्गतदोषाणां च गङ्गात्वमेव सम्पद्यते, तदनन्तरं या तत्र गुणदोषादिवर्णना, कथनरूपा, सा संयोगानन्तरं तत्र गङ्गात्वे जाते निरूप्या कथनीया न स्यात्। अथवा। सा वर्णना यथा तदनन्तरं गङ्गात्वेनैव निरूप्या, कथनीया स्यात्, न कापि दोषत्वेन, तद्वदेवात्रापि भगवति सर्वस्वनिवेदनान्तरं स्थितानामपि दोषाणां भगवदीयत्वमेवेति ज्ञात्वा तथैव कथनीयं करणीयं च, नान्यथा कथमपि इति निगर्वः।

इति श्रीविट्ठलनाथचरणैकतानगिरिधरकृतौ सिद्धान्तरहस्यविवृत्तिः समाप्ता।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

दीक्षितश्रीलालूभट्टकृतटीकासमेतम्।

श्रीमद्गोपनितम्बिनीमणिनिजप्राणप्रियानिर्मितक्रीडाम्भोनिधिरासमण्डल
लसद्राकावधूनायकम्।
कोटीन्दुद्युतिवन्दितं स्मरमनोहारित्विषानन्दितम्
वन्दे वेदशिरः समीडितगुणं गोवर्धनेशं प्रभुम्।।१।।
जयन्ति वल्लभाचार्यविट्ठलेशाङ्घ्रिरेणवः।
कुशलाः स्वीकृतस्वान्तमोहध्वान्तनिवारणे।।२।।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः पुष्टिमार्गीयजीवानां पुष्टिमार्गेङ्गीकारं चिकीर्षवः साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तममुखसरसीरुहोद्गतानि वाक्यानि स्वमात्रविषयीभूतानि भगवत्कृपापात्राणां निजोपदेशविषयकश्रद्धाधिक्यसम्पादनार्थं ग्रन्थरूपेण सङ्गतिपूर्वकं निरूपयन्ति **श्राव–**

णस्यामले पक्ष इत्यादिना। श्रवणशुक्लैकादश्यामर्धरात्रसमये श्रीमदाचार्यान् प्रति पुष्टिजीवोद्धारार्थं परमकाष्ठापन्नेन परब्रह्मणा श्रीकृष्णेन स्वयमाविर्भूयोपदेशः कृतः। स एवास्मिन् ग्रन्थे सर्वोपि विराजते। स एष प्रत्यहं विमृश्यमानो मार्गपद्धतिं प्रदर्शयत्यतो मयाचार्यवर्यकृपालब्धबोधेन तदर्थो निरूप्यते **श्रावणस्येत्यादि।**

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

श्रावणस्य वैष्णवत्वात् स गृहीतः। उपदिश्यमानमार्गस्य निर्मलताबोधनाय शुक्लपक्षः। अत एवामले पक्षे इत्यत्रामलपदमुक्तम्। एकादश्या वैष्णवतिथित्वात् सा गृहीता। अर्धरात्रसमयस्य पूर्णपुरुषोत्तमप्राकट्याधिकरणत्वात् तत्समये प्राकट्यम्। "अथ सर्वगुणोपेत" इत्याद्यष्टभिः सार्धैः श्लोकैः समानसङ्ख्याकाः सार्धा अष्टौ श्लोकाः पूर्णपुरुषोत्तमप्रादुर्भावसूचकाः। **साक्षाद्भगवतेति।** भगवान् परमकाष्ठापन्नः स्वयमेवाविर्भूयोक्तवान्, न त्वंशेन कलया विभूतिरूपेणावेशरूपेण वेति ज्ञापकं साक्षात्पदम्। अथवा। **साक्षात् पदस्य** प्रोक्तमित्यनेनान्वयः। तथा च भगवता साक्षादेवोक्तम्, न तु दूतादिद्वारा। न वा स्वप्नादिद्वारेपि बोध्यते स्म। **अक्षरश** इति। भगवदुक्तस्यैकस्याप्यक्षरस्यार्थो न त्यक्त इति अर्थः। अथवा। श्लोकरूपेणैव भगवतोक्तम् इति त एव श्लोका **ब्रह्मसम्बन्धकरणात्** इति आरभ्य **तद्वदत्रापि चैव** हि इत्यन्ता अत्र ग्रन्थे धृताः। सङ्गत्यर्थं प्रथम श्लोकः श्रीमदाचार्यैर्विरचित इति ज्ञातव्यम्। इदमत्राकूतम्। तृतीयस्कन्धनिबन्धविवृतौ भगवता प्रोक्तं यद्भगवदीया वदन्ति, तद्भागवतम् इति निरूपितम्। अतः साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिदम् इति भवत्यस्य भागवतत्वम्। तथा च यथा साक्षाद्भगवता चतुःश्लोकीरूपं भागवतं ब्रह्मणे प्रोक्तम्, यथा वा मैत्रेयाय प्रोक्तम्, तस्य भागवतत्वम्, एवं श्रीमदाचार्यान् प्रति साक्षाद्भगवता प्रोक्तमिदमपि भागवतमेवेति ग्रन्थान्तरापेक्षया अस्य वैशिष्ट्यमनुसन्धेयम्। अत एव सिद्धान्तरहस्यम् इति नामधेयमेतस्य।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः।।२।।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् इति। ब्रह्मणा सह सम्बन्धः स्वस्वामिभावलक्षणो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणदारागारपुत्रादीनां आत्मनश्च तदीयत्वम् इति यावत्। तस्य करणाद्यसहितपञ्चाक्षरनिवेदन

मन्त्रस्योपदेशेन स्फुटीकरणादि इति अर्थः। यद्यपि जीवानां सहजहरिदासत्वेन स्वस्वामिभावसम्बन्धः सिद्धोस्ति, तथापि संसारदशायां बाहिर्मुख्येन विस्मृतः स एतेनोपदेशेन ह्याविर्भाव्यते। "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्यु"रित्यष्टमस्कन्धे विन्ध्यावलिवाक्यात् प्रपञ्चस्य सर्वस्यापि भगवत्क्रीडार्थं निर्मितत्वेन भगवदीयत्वात् प्रपञ्चान्तर्गतदेहादीनामपि भगवदीयत्वं

वर्तत एव, तथापि "स्वाम्यं तु तत्र कुधियो पर ईश कुर्यु"रित्युक्त्या कुधीत्वप्रयुक्तो देहादावाहंममाभिमानः, स एतेन सगद्यमन्त्रेण नाश्यते, ततश्च तदीयत्वं स्फुटीभवति। सेवयात्मनिवेदनरूपा भक्तिः सर्वथा सम्पादनीया। "दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्। एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत" इति भगवद्वाक्यात्। सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि इति। सर्वेषाम् इति नात्र वर्णाश्रमादिनियमः, किन्तु प्राणिमात्रस्येदं कर्तव्यम् इति अर्थः। "देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा, भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्" इति सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात्। "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्" इति भगवद्गीतासूक्तत्वात्। "सर्वेधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप" इति पुराणान्तरवाक्याच्च। **देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिरिति**। देहदोषा जीवदोषाश्च निवर्तन्ते, देहजीवयोः समर्पितत्वेन भगवदीयत्वादि इति अर्थः। देहपदमिन्द्रियप्राणान्तःकरणोपलक्षणम्। तथा च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवानां सर्वदोषनिवृत्तिः, समर्पितत्वेन भगवदङ्गीकारात्। एतत्तु भगवत्सम्बन्धे युक्तमेवेति हिशब्दः सूचयति। **दोषाः पञ्चविधाः स्मृता** इति। स्मृता इति प्रमाणमुक्तम्।।२।।

तान् गणयन्ति **सहजा देशकालोत्था** इत्यादिना।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन।।३।।

इह सहजदोषदेशोत्थदोषकालोत्थदोषसंयोगजन्यदोषस्पर्शजदोषश्चेति पञ्च दोषाः। लोकवेदनिरूपिता इति तु विशेषणम्। लोकशब्देन स्मृतिपुराणादि ग्राह्यम्। तत्र केचन देहस्य, अपरे तु जीवस्येति विवेचनीयम्। तत्रापि देहदोषाणां जीवेपि सम्बन्धो देहाध्यासात्। ते सर्वेपि दोषा आत्मसमर्पणरूपया भक्त्या निवर्तन्ते। "तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नश" इति भगवद्वाक्येन भक्तिमात्रस्य सर्वदोषनिवारकत्वात्। पञ्चविधदोषास्तु प्रथमस्कन्धसप्तमाध्याये "भक्तानामभयङ्करात्वमेको दह्यमानानामपवर्गोसि संसृतेः" (भाग। पु। १।७।२३) रित्यस्य सुबोधिन्यां कर्मजाः कालजाः मायोद्भवा देशोद्भवाश्चेति पञ्चोक्तास्त एवात्राप्युक्ता इति ज्ञेयम्। तत्र स्वभावजा दोषा इह सहजपदेनोक्ताः। कालजा देशोद्भवाश्च देशकालोत्था इत्यनेन। मायोद्भवास्ते संयोगजपदेन निरूपिताः। अविद्यासंयोगजन्यत्वात्। कर्मजाः स्पर्शजपदेनाभिहिताः। "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येति स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्" इति वाक्यात्। देशदोषा मरुमगधसौराष्ट्रदुष्टदेशस्थित्यादयः। कालदोषाः कलिकालप्रभवाः शरीरशुद्ध्यादयः। एते त्रयो देहदोषाः। अविद्यासंयोगजन्याः संयोगजास्तु भगवद्भजनसद्धर्मबाहिर्मुख्यरूपाः। जीवदोषा एते। स्पर्शजा दुष्टकर्मस्पर्शेनोत्पन्नाः पातित्यादयः।

तेषां पञ्चविधानां समर्पणजन्येन स्वस्वामिभावसम्बन्धेन निवृत्तिर्जायते। तत्र शूद्रत्वादयः सहजदोषाः। मरुमगधादिदुष्टदेशस्थित्यादयो दोषा न सर्वेषाम्। ब्राह्मणाद्युत्तमकुलोत्पन्नेषु सहजदोषाभावात्। मथुरादिशुभदेशवासिषु देशदोषाभावात्। अथवा। देशदोषा अपि सर्वेषां भवन्ति। मथुराद्युत्तमदेशस्थितावपि दुष्टस्वामिकस्थलस्थित्यादिजन्यापावित्र्यादि रूपदेशदोषाणां तत्रापि सत्त्वात्। न मन्तव्याः कथञ्चनेति। आत्मसमर्पणात् पूर्वं यावन्तो दोषास्ते सर्वेपि समर्पणनाश्याः, अतो निवेदनानन्तरं ते न मन्तव्याः। निवेदनकार्ये भगवत्सेवनादौ प्रतिबन्धका न भवन्ति इति अर्थः। नहि सूर्यनाश्यं तमः सूर्यप्रकाशे प्रतिबन्धकं भवति। ''निर्गुणो मदपाश्रयः'' ''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्'' इत्यादिवाक्यैर्भगवदीयपदार्थस्य निर्गुणत्वेन समर्पितपदार्थेषु दोषसम्बन्धस्य वक्तुमशक्यत्वात्। दोषाणां तु राजसादिगुणमात्रविषयत्वेन भगवत्सम्बन्धिषु निर्गुणपदार्थेष्वभावात्। एवं निर्दोषत्वे सम्पन्ने तादृशाधिकारिणा किं कर्तव्यम् इति आकाङ्क्षायां नवरत्नग्रन्थानुसन्धानेन तनुजवित्तजभगवत्सेवैव कर्तव्येति फलति। यतो निवेदितानां पदार्थानामुपयोगो भगवत्सेवयैव भवति। देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानां दारागारपुत्राप्तवित्तानामात्मना सह भगवत्सेवायामुपयोगः स्फुट एव। एवं सति निवेदनफलं भगवत्सेवा, तत्र निर्दोषता द्वारम् इति निष्कर्षः। ''शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः। भगवत्सेवने योग्या नान्य इत्यर्थतः फलम्'' इति प्रथमस्कन्धसुबोधिन्याम् उक्तत्वात्।।३।।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।

अन्यथेति। आत्मसमर्पणं विना कर्मज्ञानयोगादिभिर्न सर्वदोषनिवृत्तिः। इह पूर्वमुक्तेषु पञ्चदोषेषु निखिलदोषाणामन्तर्भाव इति ज्ञापयितुं सर्वपदम्। ''न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवये''ति षष्ठस्कन्धवचनात्। यद्यपि प्रायश्चित्तेन दोषनिवृत्तिस्तथापि न सर्वात्मना दोषापहारः। ''कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यत'' इति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यात्। एवं ज्ञानेनापि न सर्वथा दोषनाशः। ''नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवये''ति शुकवाक्यात्। भक्त्या तु सकलदोषनिवृत्तिः। ''केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः। अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव गोपति''रिति वाक्ये कात्स्न्र्यपदात् नीहारदृष्टान्ताच्च। एवं निवेदनात् पूर्वं कृतानां दोषाणां निवेदनेन निवृत्तिमुक्त्वा निवेदनानन्तरं कदाचित् केनचिदनिवेदितपदार्थेन सम्बन्धे बुद्धिभ्रंशाद्दोषोत्पत्तिः सम्भवेदतो दोषाणामनुत्पत्त्यर्थं दोषोत्पादकपदार्थानां हेयत्वम् आहुः असमर्पितवस्तूनाम् इति। भगवदनुपभुक्तान्नवसनस्रग्गन्धादीनाम् इति अर्थः। यस्मात् असमर्पितस्य सदोषत्वेन तत्सम्बन्धे स्वस्यापि दोषोत्पत्तिः, तस्मादसमर्पितवस्तूनां वर्जनं कर्तव्यम् इति अर्थः। अतएव ''असमर्पितं तथा विष्णोः श्वमांससदृशं भवेत्। शुनोविष्ठासमं

चान्नं नीरं तत्सुरया समम्'' इत्यादिवाक्यैरसमर्पितसम्बन्धे दोषबाहुल्यं गीयते।

एवसमर्पितवस्तूनां हेयत्वकथनेन तत्सम्बन्धं निराकृत्य दोषानुत्पत्तिप्रकारमुक्त्वा देहादिनिर्वाहार्थं कृतात्मनिवेदिनः प्रेमासक्तिव्यवसनसर्वात्मभावान्तभक्तिहेतुभूताधिदैविकीशुद्ध्यर्थं च भक्तिमार्गीयमुपायमाहुः निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।।५।।

निवेदनं निवेदः, निवेदो येशामस्ति ते निवेदिनः पदार्थाः अन्नादयः, तैः निवेदिभिः पदार्थैः सर्वं भक्षणादिव्यवहारं कुर्यात्, परन्तु समर्प्यैव कुर्यात्। अत्रेदं आकूतम्। सगद्यपञ्जाक्षरमन्त्रग्रहणावसरे सर्वेपि स्वकीयाः पदार्था देहादयो दारागारादयश्च भूतभविष्यद्वर्तमानकालसम्बन्धिनो निवेदिता ब्रह्मसम्बन्धिनो निर्दुष्टा बभूवुः। अतस्ते सर्वेपि पदार्था निवेदिपदवाच्याः, तेषां पुनः समर्पणं नाम तत्तदवसरे भगवदुपयोगकरणम्, अतो मन्त्रग्रहणावसरे निवेदितानामन्नादीनां भगवदुपयोगं कृत्वा भगवदुपभुक्तशिष्टेन भक्षणादिव्यवहारं कुर्यात् इति। तथा च पञ्चाक्षरमन्त्रग्रहणेन स्वकीयपदार्थानां ब्रह्मसम्बन्धः स तु सामान्यतः समर्पणम्। पुनस्तदुपयोगिकरणं विशेषतः समर्पणं ज्ञेयम्। एव समर्पितात्मनः सर्वे पदार्था भगवदीयत्वान्निर्दुष्टास्तान् भगवदुपयुक्तान् कृत्वा तद्दत्तप्रसादत्वेन भक्षणादिव्यवहारो भक्तिमार्गे प्रशस्तः। तदुक्तं श्रीप्रभुचरणैर्नवरत्नप्रकाशे ''तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोभोगकृतिरुचिततरे''ति। प्रसादत्वेन ग्रहणं कृतार्थतासम्पादकम्। ''त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही''त्येकादशस्कन्धे श्रीमदुद्धववाक्यात्। अतः सामान्यसमर्पणविशेषसमर्पणोभयसूचनार्थं **निवेदिभिः समर्प्येति** पदद्वयेन निवेदनम् उक्तम्। इदं त्विह विशिष्टावधेयम्। निवेदनमन्त्रग्रहणेन ब्रह्मसम्बन्धे सर्वेषां पदार्थानामन्नादीनां या शुद्धिः सा त्वाधिदैविकी तस्यां सिद्धायामपि दुष्टस्पर्शादिदोषनिवृत्तये भगवन्नामाभिमन्त्रितजलप्रोक्षणादिजन्या जलक्षालनादिजन्या भौतिकी शुद्धिः कर्तव्या। एवं शङ्खोदकतुलसीगोपालमन्त्रशरणमन्त्रोच्चारणादिनाध्यात्मिकी शुद्धिः सापि कर्तव्यैव। श्रीमदाचार्यवर्यैस्तु पुष्टिभक्तिमार्गे या विशेषतः समर्पणजन्या शुद्धिः सात्र ग्रन्थे निरूपिता। सामान्यतो भौतिकी शुद्धिस्तु स्मृतिपुराणधर्मशास्त्रप्राप्तैवेति सा नोक्ता, नैतावता तस्या निषेधः। अतः सा यथाशास्त्रं विधेयैव। अत एव भगवत्सेवार्थं स्नात्वा गच्छतो निवेदितात्मनः पुंसो मध्ये निषिद्धस्पर्शदोषनिवारणार्थं पुनः स्नानादिना शुद्धिसम्पादनमार्याणां व्यवहारः। एवमेव पात्रादीनां यथाशास्त्रं शुद्धिकरणमस्मत्सम्प्रदाये अस्ति। अत एव पुत्रजन्मनि वृद्धिसूतके देहाशुद्धिं मन्वाना न भगवच्चरणौ स्पृशन्ति। दशदिवसनन्तरं यथापूर्वमाचरन्ति, तावता कालेन शुद्धेः शास्त्रसिद्धत्वात्। सेयं भौतिकी शुद्धिर्न निवेदनहेतुका। अन्यथा

देहादीनां समर्पितत्वेन सकलाशुद्धिसम्बन्धस्य वक्तुशक्यतया स्नानादिशुद्धेर्निष्प्रयोजनकत्वं स्यात्। स्नानसन्ध्यावन्दनादिरूपं शोधकं परमभक्तानामपि व्यवहारे दृश्यते। ''इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निक'' इति वाक्यात्। तदन्यथानुपपत्त्या भौतिकी शुद्धिर्वैष्णवानामुचितेत्यायाति। अतो भौतिकी शुद्धिर्जलक्षालनादिना शङ्खोदकादिना चाध्यात्मिकी शुद्धिर्यथाशास्त्रं सम्पादनीया। ननु शुद्धिद्वयं स्नानशङ्खोदकादिना सम्पाद्यम्, अधिदैविकी शुद्धिः समर्पणेन सम्पन्ना, ततो द्वितीयस्य विशेषतः समर्पणस्य किं प्रयोजनम् इति चेत्, श्रूयताम्। भगवते समर्पितानां पदार्थानां भगवदुपयोगकरणाभावे अपराधः स्यात्। सामान्यतः समर्पितानां भगवदुपयोगं विना स्वोपयोगे तु महानेवापराधसमुदाय आपद्येत। अतः सामान्यतः समर्पितानां भगवदुपयोगकरणरूपं विशेषतः समर्पणमावश्यकमेव। तदेतदुक्तं निवेदिभिः समप्यैंव सर्वं कुर्याद् इति। अत्र ह्यसङ्कुचितवृत्तिना सर्वपदेन लौकिकवैदिकव्यवहारः सर्वोपि गृहीतः। तथा च नित्ये नैमित्तिके च कर्मणि कर्माङ्गदेवताभ्यो यदन्नं देयं तदपि भगवते समप्यैंव देयम् इति स्फुटति स्म। अत एव ''विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्। पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पत'' इत्यादिवचांस्युपलभ्यन्ते। युक्तं चैतत्। ''देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा। भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम् इति प्रह्लादवाक्यात् सर्वे देवा भगवद्भक्ताः। अतस्तेषां भगवदीयत्वाद्भगवत्प्रसाददाने तेषां प्रसाद एव। ननु सर्वोपि पदार्थो भगवते समर्पणीय इति उक्तम्, एवं सति केनचिद्देवान्तरोपयुक्तशिष्टवसनादिकं स्वस्मै दत्तं तर्हि तद्भगवते समर्पणीयं न वेत्याकाङ्क्षायां नेत्याहुः न मतं देवदेवस्येत्यादिना। यतो भगवान् देवानामपि देवः पूज्यः स्वामी, अतो भगवद्भुक्तशिष्टं सर्वेभ्योपि देयम्, अन्यभुक्तशिष्टं तु हरये नार्पणीयम्। ''पितृशेषं तु यो दद्याद्धरये परमात्मने। रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन'' इत्यादिनिषेधात्। तदेतदाहुः न मतं देवदेवस्येत्यादि।

एवमुक्त्वा सिद्धमुपदिशन्ति तस्मादादौ **सर्वकार्य** इत्यादिना।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः।।६।।
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

यस्मात् सामिभुक्तं प्रभवे न निवेद्यम्, किन्तु कृष्णोपभुक्तशिष्टेन देवतायजनं स्वस्य भोजनादिव्यवहारश्च शास्त्रसिद्धः, तस्मादादौ सर्वं श्रीकृष्णाय समर्पणीयम् इति अर्थः। ननु भगवत्समर्पितस्य पुनः प्रसादत्वेन ग्रहणे दत्तस्यापहारो भवति, अतो न युक्तम् इति आशङ्क्य समाधिम् आहुः दत्तापहारवचनम् इत्यादिना। दत्तापहारवचनं भिन्नमार्गपरम् इति अन्वयः। दत्तापहारस्य वचनं निषेधकवचनं भिन्नमार्गपरम्, न तु भक्तिमार्गे निषेधः। निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात्। भक्तिमार्गे दत्तापहारस्याप्राप्तत्वात्।

अस्मिन् मार्गे हि देहादीनामात्मना सह भगवते निवेदनम्, न तु दानम्, स्वसत्तानिवृत्तिपूर्वकपरसत्तोपादानस्य दानलक्षणत्वात्। इदं तु ''क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं'' इति चतुर्थस्कन्धवाक्यात् निवेद्ये देहादौ भगवत्सत्तायाः सर्वदा विद्यमानतया स्वसत्तायाः अभावात्। अत एव परसत्तोपादानमपि न सम्भवति। सर्वस्य पदार्थजातस्य भगवदीयत्वात्। किन्तु भगवदीयस्यैव पदार्थस्य भगवते समर्पणम् इति नात्र दानम्। दानाभावेन दत्तापहारोपि नैवास्ति इति भक्तिमार्गभिन्नमार्गे निषेधप्रवृत्तिरिति भावः। तस्मान्निवेदितस्य भगवदुपभुक्तशिष्टस्य ग्रहणे निषेधाभावात् प्रभुदत्तप्रसादत्वेन ग्रहणं विधेयमेव। एतदेव नवरत्नप्रकाशे श्रीमत्प्रभुचरणैरवादि ''दाने हि न स्वविनियोगो न तु निवेदन'' इति। ननु मास्तु दत्तापहारस्तथापि ''अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्'' इति अनेन निवेदितग्रहणस्य निषेधात् कथं निवेदितस्वीकार इति आशङ्क्य समादधते तथा च सकलं हरेः न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् इति। इति वाक्यम् इति अत्र इति शब्दः प्रकारे। तथा हरेः सकलं न ग्राह्यम् इति प्रकारकं वाक्यं ''अपि दीपावलोकं मे'' इत्यादिरूपं भिन्नमार्गपरम्, न तु भक्तिमार्गपरम् इति अर्थः। अपि च। समर्पणगद्यसमाप्तौ दासत्वस्य निरूपितत्वादङ्गीकारे दासधर्मस्य भगवदुच्छिष्टग्रहणस्योचिततरत्वमेव। श्रीमदुद्धवेनापि भगवदुच्छिष्टग्रहणस्य दासधर्मत्वबोधनाय ''उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि'' इति अत्र दासपदमभाणि। दास्यं च सर्वथा कर्तव्यमेव। ''श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् इति प्रह्लादेन नवविधभक्तिषु दास्यस्य गणनात्। अस्मिन्नेव सप्तमस्कन्धे श्रीनारदेन ''श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्'' इति अनेन नवविधभक्तौ दास्यस्योपादानात्। तत्रापि ''नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृत'' इत्युक्त्यावश्यकत्वस्य सूचनाच्च।

ननु सप्तमस्कन्धे ''हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेते''त्यत्र त्यागस्योक्तत्वात् त्याग एव कर्तव्यः तथा सति भिक्षावृत्त्या कस्यचिद्वैष्णवस्य गृहाद्देहनिर्वाहकमात्रं भगवदुपभुक्तशिष्टं गृहीत्वा निष्प्रत्यूहं भगवद्भजनं कार्यम्, किमर्थं दारागारसम्पादनं चेति आशङ्क्य दारादिसम्पादनप्रयोजनं देहादिनिर्वाहकप्रकारं चाहुः सेवकानां यथेत्यारभ्य, तथा कार्यं समप्यैंवेत्यन्तेन।

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति।।७।।
तथा कार्यं समप्यैंव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।

सेवकानाम् इति। भगवतः श्रीविग्रहं सेवमानानाम् इति अर्थः। तेषां यथा लोके सर्वोपि व्यवहारः भगवत्सेवारूपः सेवोपयोगि लौकिकभोजनादिरूपो वैदिकः पुत्रोपनयनविवाहादिरूपश्च स यथा येन प्रकारेण **सिध्यति**। तथा कर्तव्यम्। तथा सति स्त्रीपुत्रादिभिः सह कृष्णसेवा सिध्यति। तदभावे तु सेवाया न निर्वाहः। अतः

स्त्रीपुत्रादिसम्पादनं कृष्णसेवार्थम् इति प्रयोजनं सिद्धम्। अनिवेदिता: स्त्रीपुत्रादयो बाहिर्मुख्यं जनयन्त्यतस्तन्निवृत्त्यर्थं स्त्रीपुत्रादीनां निवेदनमावश्यकम्। तदेतदुक्तं तथा कार्यं समर्प्यैवेति। भगवतापि ''दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्'' इति अनेन निवेद्यत्वेन दारादयो निर्दिष्टा:। निवेदनस्य किं फलम् इति आकाङ्क्षायां ''उद्धवात्मनिवेदनां मयि सञ्जायते भक्ति''रित्युक्त्या भक्तिशब्दवाच्या सेवैव फलत्वेन निर्दिष्टा। भक्तिशब्दस्य सेवार्थ:। भजसेवायाम् इति धातुपाठात्। ''भज इत्येष वै धातु: सेवायां परिकीर्तित'' इति तन्त्राच्च। तथा च सिद्धमेतत्। दारादिसङ्ग्रहस्तन्निवेदनं च कृष्णसेवार्थम्। कृष्णसेवा हि सर्वथैव कर्तव्या। ''तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनोवच:। नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वर'' इति नारदवाक्यात्। ''करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च शावौ करौ नो कुरुत: सपर्याम्। करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु'' इत्यादिवच:पुञ्जाच्च। ''यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न'' इति पञ्चमस्कन्धे देववाक्ये सर्वदेवतास्पृहणीयत्वस्या

भिधानाच्च। अत: सेवार्थं गृहाश्रमस्तन्निर्वाहार्थं लौकिको ज्ञातिसम्बन्धव्यवहारो ब्राह्मणभोजादिरूपो यज्ञोपवीतविवाहादिकर्मसु कर्माङ्गभूतदेवतापूजनादिव्यवहारश्च सर्वथा कर्तव्य एव। परम्परया कृष्णसेवोपयोगित्वात्। परन्तु स सर्वोपि भगवते समर्प्यैव भगवदुपभुक्तशिष्टेन कार्य:। एतद्बोधकं समर्प्यैवेत्यत्रवैपदं एतदभिसन्धाय ''सेवकानां यथा लोके'' इति अत्र सेवकपदं दत्तमाचार्यवर्यै:। अनेन सेवाभिलाषिणां गृहाश्रम: सर्वाश्रमेभ्यो बलीयानित्युक्तं भवति। यस्य तु गृहे भगवत्सेवाया अभावस्तद्विषयकानि गृहत्यागवचनानि। अत एव ''हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपम्'' इति अत्रात्मपातत्वमन्धकूपत्वं च विशेषणद्वयमुक्तम्। न हि भगवदीयानां गृहमन्धकूपं भवति। वेदान्तरत्नरूपस्याखिलपुरुषार्थदातुर्भगवतो विराजमानत्वात्। अत: सर्वं सुस्थम्। गृहाश्रमाभिप्रायेणैव भगवन्तं प्रति विज्ञापयता उद्धवेन ''त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिता'' इति अत्र वसनभूषणाद्यलङ्कृतत्वं श्रीकृष्णदासानामुक्तम्। अन्यथा त्यागपक्षे भूषणवसनाद्यलङ्कारो नोचित इति न वेदत्। अतो गृहाश्रमं सम्पाद्य भगवते सर्वं निवेद्य कृष्णोपभुक्तशिष्टेन देहादिनिर्वाहे न किञ्चिदूषणम्। ''अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्। कृत्वा विष्णूपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै''रित्यादिपुराणान्तरवच:समुदायादिति दिक्। ''अम्बरीष नवं वस्त्रंम्'' इति अत्र नवपदेन अन्यभुक्तस्य निवेदनं निषिद्धम् इति ज्ञेयम्। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवन्तं भजमानस्य फलम् आहु: सर्वेषां ब्रह्मता तत इति। आत्मना सह समर्पितानां देहादीनां दारागारपुत्रादीनां च ब्रह्मता भवति। निर्दोषत्वप्रकटसच्चिदानन्दत्वरूपाक्षरब्रह्मधर्मास्तेष्वाविर्भूता भवन्ति इति अर्थ:।

पूर्वमतथाभूतस्य भक्त्या ब्रह्मत्वप्राप्तौ दृष्टान्तम् आहु: **गङ्गात्वं सर्वदोषाणाम् इत्यादिना।**

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ १/२।।

सर्वे दोषा येषु तानि सर्वदोषाणि रथ्यादिजलानि। तेषां गङ्गाप्रवाहप्रवेशे यथा गङ्गात्वम्, तथा निवेदनेन ब्रह्मत्वं भवति इति अर्थ:। गङ्गाप्रवेशे रथ्यादिसलिलानां सर्वे दोषा निवर्तन्ते, ततो निर्दुष्टवारीणां गङ्गात्वम्, न तु दोषाणां गङ्गात्वम्, तेषां गङ्गासम्बन्धनाश्यत्वात्। अतो ''गङ्गात्वं सर्वदोषाणाम्'' इति अत्र सर्वदोषपदे बहुव्रीहिर्ज्ञेय:। तथाच सर्वदोषाणां दोषयुक्तानां जलानां दोषानिवृत्त्या गङ्गात्वम् इति अर्थो भवति। एवमिहापि निवेदनेन गतदोषाणां ब्रह्मत्वमाकलनीयम्। **गुणदोषादिवर्णना गङ्गात्वे न निरूप्या स्याद् इति।** गङ्गात्वे इति सप्तमी। गङ्गात्वे सति निर्दोषादिवर्णना न निरूप्या स्यात्। अस्मिन् प्रवाहे ब्राह्मणजलं पतितम्, तच्छुद्धमस्ति, रथ्याजलं निपिद्धमस्तीत्यादिरूपा गुणदोषवर्णना गुणदोषकथा न निरूप्या किन्तु सर्वमेव जलं गङ्गामिलितं गङ्गैवेति निर्धार:। तद्वदत्रापि इति। अत्रापि निवेदनेपि इति अर्थ:। निवेदने हि सर्वस्य ब्रह्मत्वं तुल्यम्, न वर्णाश्रमादिगुणदोषविचार:। अपि तु सर्वस्य भगवदङ्गीकृतत्वम् इति भाव:।

निखिलोपनिषद्वेद्यो बालकृष्णो व्रजाधिप:।
तदङ्घ्रौ बालकृष्णेन मया सर्वं समर्पितम्।।१।।

निवेदनविचार:।

अथेदं विचार्यते किं नाम निवेदनम्, किं प्रयोजनकम्, कतिप्रकारकं चेति। तत्र ''दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्'' इति अत्र दारादयो निवेद्यत्वेन निर्दिष्टा:। ''एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्'' इति आत्मपदेन देहजीवौ निवेद्यत्वेनोक्तौ, आत्मशब्दस्योभयवाचकत्वात्। तथा च आत्मनो जीवस्य देहेन दारादिभि: सह भगवत्सेवोपयोगिकरणमात्मनिवेदनम्। तच्च त्रिविधम्। ''अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनम्। यै: कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवने''ति नवरत्नग्रन्थात्। तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैर्यदात्मनिवेदनं तदुत्तमम्। भगवत्स्वरूप स्वस्वरूपनिवेदनस्वरूपज्ञानपूर्वकं आत्मनिवेदनं तन्मध्यमम्। प्रेमज्ञानोभयराहित्येन केवलं पुष्टिमार्गीयगुरुमुखोद्गतसगद्यपञ्चा क्षरमन्त्रोच्चारणजन्यमात्मनिवेदनं तृतीयम्। एवं त्रिप्रकारके निवेदने यदुत्तमं तत्प्रेमोत्पत्तिपश्चाद्भावि। द्वितीयं पुष्टिमार्गीयग्रन्थाध्ययनगुरूपदेशजन्य ज्ञानानन्तरोत्पत्तिकम्। तृतीयं तु केवलं पुष्टिमार्गीयगुरुमुखोत्थ सगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोपदेशोत्तरभावि। नवरत्ने अज्ञानाद्यन्निवेदनमुक्तम्, तत्पञ्चाक्षरमन्त्रोपदेशमात्रजन्यम् इति बोद्धव्यम्। एवं त्रिप्रकारकनिवेदनस्य प्रयोजनं भगवत्सेवा। तया कृतार्थत्वम्। ''उद्धवात्मनिवेदिनां

मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यते'' इति वाक्यात्। इह वाक्ये आत्मनिवेदनानन्तरं भक्तिशब्देन प्रेमसेवामुक्त्वा ''कोन्योर्थोस्यावशिष्यत'' इति अनेन कृतार्थत्वमुक्तम्। ननु पित्रा कृते निवेदने पुत्रस्य भगवदीयत्वे सिद्धे पुनः पुत्रेण किमर्थं निवेदनं विधेयम् इति चेत्, सत्यम्। भगवदीयत्वेपि स्वदेहादौ स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिमन्तरेण न भगवदीयत्वबुद्धिरुत्पद्यते। अतः सर्वैरेव स्वस्वाध्यासनिवृत्तये पृथक् पृथग्निवेदनं कार्यम्, सर्वानेव जीवानधिकृत्य निवेदनस्य विहितत्वात्। ''सख्यमात्मनिवेदनं नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृत'' इति सप्तस्कन्धे युधिष्ठिरं प्रति नारदवाक्यात्। अतः शास्त्रसिद्धत्वात् पृथक्पृथगनुष्ठेयम्। तथाच विशेषतो भगवदीयत्वं सेत्स्यति, अधिकस्याधिकं फलम् इति न्यायात्। यथार्जुनस्य वैष्णवत्वेन पूतत्वेपि पौत्रपरीक्षिद्भक्त्या विशेषतः पूतत्वम्। ''त्रिःसप्तभिः पिता पूत'' इति प्रल्हादं प्रति भगवद्वाक्यात्। यस्य वंशे वैष्णव उत्पन्नः स पवित्रो भवत्येवेति सर्वसत्सम्मतम्। स्वयं वैष्णवो वैष्णववंशकर्ता चेद्विशेषतः पूतो भवति। अधिकं तत्रानुप्रविष्टम्, न तु तद्धानिरिति न्यायात्। एवं निवेदनेपि ज्ञेयम्। ननु अज्ञानात्केवलमन्त्रोच्चारणेन कथं निवेदनसिद्धिरिति चेत्, सत्यम्। ज्ञानाभावेन केवलं मन्त्रोच्चारणेनापि धर्मसिद्धेर्बालादावुपलभ्यमानत्वात्तन्न्यायेनात्रापि निवेदनसिद्धिरित्याकलितव्यम्। बालो हि दानादिधर्मं कुर्वन् पित्रादिशिक्षया दातुमहं समुत्सृज इत्यादिपदमुच्चारयन् स्वरूपमजानन्नपि दानफलमाप्नोति। तथात्र स समर्पणगद्यपञ्चाक्षरमन्त्रोच्चारणे समर्पयामि इति पदमुच्चारयंस्तत्स्वरूपमजानन्नपि समर्पणफलमवाप्नोति। यथा वा रोगाद्यातुरकृतधर्मे मूर्खकृतधर्मे शब्दोच्चारणमात्रेण सिद्धिः, एवमुच्चारणमात्रेण निवेदनसिद्धिरिति मञ्जुलमखिलम्। ननु एकगुरोरुपदेशग्रहणे दम्पत्योः परस्परं भ्रातृत्वाद्यापत्तिः, तद्धिया गुरुपार्थक्यमेव कर्तव्यम्, न त्वेकगुरुत्वम् इति चेत्, न। ''आचारो धर्ममार्गश्च गुरुर्मन्त्रश्च देवताः। दम्पत्यपत्यभृत्येषु एकीकृत्य महत्फलम् इति'' साधनदीपिकास्थपाद्मोत्तरखण्डवाक्यात्। देहजसम्बन्ध एव तथात्वेन पारमार्थिकेस्मिन्निवेदनमन्त्रोपदेशसम्बन्धे गुर्वैक्येपि दोषाभावात्। अयमेव गुरुकत्वरूपः सम्बन्धो न लौकिकः किन्तु भगवत्प्राप्तिसाधनत्वात् अलौकिकः, अलौकिकसम्बन्धस्य लौकिकपदार्थे दोषजनकत्वं नास्त्येव। अतो नैकगुरुकत्वे दम्पत्योर्भ्रातृभगिनीत्वापातः। ''अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च। विद्यादाता जन्मदाता पञ्चैते पितरो नृणाम् इति ब्रह्मवैवर्तीयब्रह्मखण्डदशमाध्याये सूतवाक्ये पितृत्वादिविधौ पितृवत्पूज्यतामात्रमभिप्रेतम्। अन्यथान्नदात्रादीनां पितृत्वेन दम्पत्योरेकपोष्यत्वे एककर्तृकभयत्राणे च भ्रातृभगिनीभावापत्तिरिति विवाहवैयर्थ्यमेव स्यात्। एवं गुरावपि पितृवत्पूज्यतामात्रमभिप्रेतम्। न त्वेकगुरुकत्वसम्बन्धे भ्रातृत्वमतो दम्पतिभ्यां भक्तिमार्गे गुर्वैक्यकरणं न दोषायेति दिक्। किञ्च। भारते आश्वमेधिके उत्तङ्कोपाख्याने गौतमेन उत्तङ्काय स्वशिष्याय स्वसुता परिणायितेत्युक्तम्। ''इत्थं

च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वहे''त्यारभ्य ''ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम्'' इत्यन्तेन कार्तिकमाहात्म्ये च ''अपुत्रः स च शिष्याय चन्द्रनाम्ने ददौ सुताम्'' इति उक्तम्। अतो ज्ञायते गुरुपुत्र्या विवाहेपि दोषो नास्ति। गुरुपुत्र्यां गुरुतल्पातिदेशो व्यभिचारेण तथात्वे विवक्षितो, न तु विवाहे। अन्यथोत्तङ्के चन्द्रनाम्नि च गुरुतल्पगामित्वं स्यात्, अत उक्तैव व्यवस्था सुधीभिरादर्तव्या। एवं भक्तिमार्गीयशिष्टसम्प्रदायसिद्धपद्धतिके सन्मार्गीयनिवेदनप्रकारे दूषणलेशोपि नास्ति इति निर्दुष्टः पन्था अस्मदाचार्याणामार्याणां च।

गोवर्धनेशपदपङ्कजलब्धिहेतुः श्रीवल्लभैर्निगदितात्मनिवेदनाख्या।।
श्रीविट्ठलप्रकटिता हरिभक्तिरेषा चर्कर्तु वाञ्छितफलान्यमलाश्रितानाम्।।१।।

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामविदितदीक्षितबालकृष्णेन विरचिता सिद्धान्त रहस्यटीका सम्पूर्णा।

श्रीकृष्णाय नमः।

सिद्धान्तरहस्यम्।

श्रीशाचार्यमतानुवर्तिकृतसंवादविवृतिसमेतम्।

श्रीवल्लभं नमस्कृत्य तन्मुखोक्तीर्विभाव्य च।
क्रियते भक्तिसिद्धान्तरहस्याविवृतिर्मया।।१।।

अथ श्रीगोपीजनवल्लभः क्वचिच्छ्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि प्रादुर्भूय भगवान् अनन्तशयनस्वरूपे[1] समर्पितं सितोपलखण्डं स्ववदने निक्षिप्य तदर्पितपवित्रमालिकाः परिधाय प्रोवाच ''श्रीवल्लभ, भवत्प्राकट्यं ममैव स्वास्यात् कृतमस्ति, तेनात्मनिवेदनद्वारा जीवोद्धारणे विलम्बो न कार्य'' इति। तदनु कीदृशं तदिति प्रश्ने, भगवान् सगद्यं 'तवास्मि' इतिपूर्वकं स्वसिद्धान्तरहस्यं समुपदिष्टवान्। तथाहि। एकदा श्रीवल्लभाचार्या धृतव्रताः श्रीगोकुले श्रीयमुनातटे समुपासीना भगवन्तं श्रीगोपीजनवल्लभं साक्षाद् दृष्टवन्तः। तत्र यदनुभवन्ति स्म, तदेव स्वयमावेदयन्ति **श्रावणस्येत्यादिश्लोकैरष्टभिः**। सार्धैः। धर्मधर्म्यभिप्रायेण[2] दृष्टान्तेन च। प्रथमं प्रतिज्ञावाक्येनाहुः **श्रावणस्येति।**

श्रावणस्यामले पक्ष एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

साक्षादाविर्भूतेन भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते।।१।।

ननु भगवान्, सर्वदोषनिधाने कलौ तथाविधदेहात्मनामेषां जीवानां कथं कस्मात् समुद्धार इति पृष्टो भगवानाह ब्रह्मसम्बन्धकरणात् इति।

१. शालिग्रामे। २. षड् गुणा धर्माः, सप्तमो धर्मी, श्रीभगवदभिप्रायेण।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयो:।

सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषा: पञ्चविधा: स्मृता:।।२।।

निर्दोषं हि समं ब्रह्माहम्, तस्मिन् सम्बन्धस्य करणात् साधकतमात् सगद्यपञ्चाक्षरकथनात्। अंशत्वेपि "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्यया"विति भक्तिमार्गीयात्मसमर्पणापरपर्यायनिवेदनद्वारा सेवकत्वकरणात् इति अर्थ:[३]। ननु केषां तत्करणम् इति चेत्, अत्राह सर्वेषाम् इति। दैवमध्ये उच्चनीचानामपि स्त्रीपुंनपुंसकानाम्। ननु तत्र देहेन्द्रियान्त:करणप्राणजीवसत्त्वात् कुत्र तत्करणम् इति अत्राह **देहजीवयोरिति**। प्राणेन्द्रियान्त:करणोपचिते[४] देहे जीवेपि। तदा किं भविष्यति इति आशङ्कायाम् आहु: **सर्वदोषनिवृत्तिर्हि** इति। ब्रह्म हि निर्दोषं सममिति तत्र सम्बन्धकरणे सा न्यायेति हिशब्देन सूच्यते। ननु के ते दोषा इति आकाङ्क्षायाम् आहु: **दोषा: पञ्चविधा: स्मृता इति**।।२।।

ननु किमाख्या तेषाम्, तत्राह सहजा इत्यादित्रिभि: पादै:।

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिता:।

संयोगजा: स्पर्शजाश्च न मन्तव्या: कथञ्चन।।३।।

एते श्रीगोकुलेशोत्सवादिभिर्विवृता एवेति न प्रतन्यन्ते। नन्वेते कथं चिन्त्या इति तत्र आह **न मन्तव्या: कथञ्चनेति**। सत्त्वेन न मन्तव्या: किन्तु समूलं निवृत्ता इत्यग्रे तु सावधानतया स्थेयम् इति भाव:।।३।।

ननु शास्त्रेषु दोषनिवृत्त्यर्थं भूतशुद्ध्यादिरूपं प्रकारान्तरमपि श्रूयत (क्रियते) इति चेत्, तत्राह अन्यथेति।

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्ति: कथञ्चन।

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।।४।।

प्रकारान्तरेणैतदुक्तसर्वदोषाणां कथञ्चन न निवृत्ति: किन्तु यथाकथञ्चित् केषाञ्चिदेवेत्यर्थ:। ननु स्वस्याहन्तास्पदानां सधर्माणां[४] देहेन्द्रियप्राणान्त:करणात्मनां ब्रह्मणि सम्बन्धे समर्पणाख्ये कृतेप्यवशिष्टानां ममतास्पदानां वस्तूनामतथात्वे दोषतादवस्थ्यमेवेति आशङ्कायाम् आह असमर्पितेति। तेषामपि समर्पणं यथायोग्यं विधेयम् इति अर्थ:।।४।।

ननु स्वयमेव कृतं कथं तत् सेत्सति इति अत्राह निवेदिभिरिति।

निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थिति:।

न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्।।५।।

आत्मनिवेदिभिर्महापुरुषैर्द्वारा (गुरुभिरिति बहुत्वं पूज्यत्वेन ज्ञेयम्) सर्वं दारागारपुत्राप्तवित्तेहपरादिकं समर्प्य कुर्यात्, स्वान्नादिकं समर्प्य गृह्णीयाद् इति भक्तिमार्गमर्यादा।

३. वैष्णवत्वकरणात्। ४. सधर्मक।

"महापुरुषेण निवेदिता" इति उक्तत्वात्। ननु मतान्तरे अर्धभुक्तसमर्पणं विधीयते, तथात्रापि न वेत्याङ्कायाम् आह भगवान् न मतम् इति। न तन्मम मतम्, कुत:, तत्राह **देवदेवस्येति**। साधारणो देवोपि नैवमङ्गीकुरुते, कथं देवदेवोहं तदुच्छिष्टमङ्गीकुर्याम् इति भाव:।।५।।

तर्हि कथं विधेयम् इति अत्राह **तस्मादादाविति**।

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरे:।।६।।

न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।

सर्वकार्ये लौकिकवैदिके च, अनिषिद्धप्रियसर्ववस्तुसमर्पणं कार्यम्, अत्र बहूनि प्रमाणवचनानि दर्शितानि तैरेव। ननु तर्हि भगवते दत्तस्यापहरणे स्वोपभोगार्थं दोष एव, अनपहरणे अनिर्वाह इत्युभयत:पाशा रज्जुरेवेत्याशङ्कायाम् आह, **दत्तापहारवचनं,** हरेस्तन्न ग्राह्यम् इति वाक्यं च भिन्नमार्गपरं मतम्, दानधर्मपूजामार्गपरम्, न तु शुद्धभक्तिमार्गपरम्। यत्स्वसत्ताकमेव हि दीयते, परसत्तामापाद्यते, तन्न ग्राह्यम्। तथा च सकलं नैवेद्यं तथावादिना न ग्राह्यमित्यापत्तौ सदाचारविरोध:। यद्वा। वस्तुनो हरे: सकलं सर्वम् इति किमनेन दत्तम्, यदपहरणे दोष:। किञ्च, नेदमपहरणम् किन्तु तत्प्रसाददत्तवस्तुग्रहणं वस्तुतोपि तदीयस्यैव वस्तुनो नितरां वेदनं ज्ञापनं समर्पणं सेवकधर्म:।।६।।

कथं तर्हि वर्तितव्यम्, तत्राह **सेवकानां** यथेति।

सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिध्यति।।७।।

तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत:।

तदुच्छेषग्रहणेन वर्तितव्यम्। तत: समर्पणात् सर्वेषां ब्रह्मता निर्दोषतात्मकता।।७।।

ननु कथं तथा प्रतीयेतेत्यत्राह दृष्टान्तेन गङ्गात्वम् इति।

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।

गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि।।८ [१/२]।।

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यं समाप्तम्।

सर्वेषां दोषवतां जलानामिव गङ्गासम्बन्धे गङ्गात्वम्, गुणदोषादिवर्णना, जलानां गङ्गात्वेन यथा निरूप्या, तद्वदेवात्रापि निश्चेयम्।।८।।

इति श्रीभगवत्सम्मुखश्रीवल्लभाचार्यकृतभक्तिसिद्धान्तरहस्यसंवादस्य
विवृति: श्रीशाचार्यवर्यमतानुवर्तिना कृता सम्पूर्णा।